ओ३म्

सरस्वती वन्दना

[वेदों से सरस्वती देवता के मन्त्रों का संकलन]

मनोहर विद्यालंकार

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६
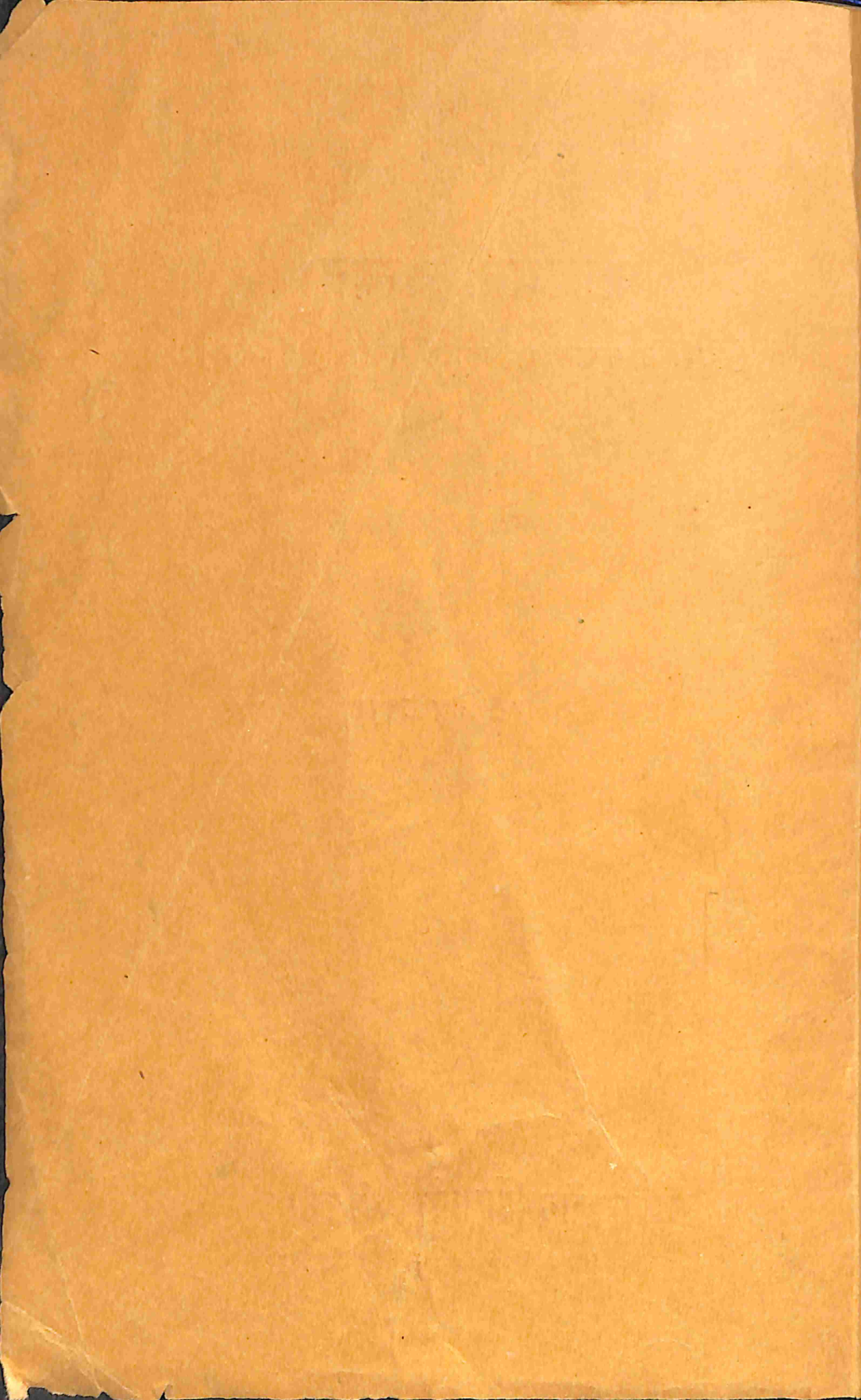
सरस्वती वन्दना

मनोहर विद्यालंकार

गोविन्दराम हासानन्द

प्रकाशक :
गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क
दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९८१

मूल्य : ५.००

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

विषय प्रवेश

वेद में सरस्वती देवता की महत्ता

सरस्वति देवनिदो निबर्हय ।। प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदापृणद् घृतेन ।।

वेद भगवान्

विश्व के वाङ्मय में वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। विश्व इतिहास के किसी मनुष्य द्वारा इनके प्रणयन, प्रतिपादन या विरचन का कहीं कोई संकेत नहीं मिलता, इसलिए इन्हें अपौरुषेय अथवा ईश्वर प्रणीत माना जाता है। धर्मग्रन्थ कहने से इनका महत्त्व नहीं बढ़ता, अपितु इनका क्षेत्र संकुचित हो जाता है। ये राष्ट्रग्रन्थ अथवा विश्वसंस्कृति के प्रथम ग्रन्थ कहलाने के अधिकारी हैं।

वेद के साथ संहिता पद अवश्य जुड़ा होता है, जिससे प्रतीत होता है कि ये सब संकलन हैं। ऋक् मन्त्र १०-११४-८ में "सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था" पाद प्रयुक्त हुआ है, जो संकेत करता है कि वेद में कुल मन्त्र लगभग १५ सहस्र हैं। अधिक संख्या पुनरुक्त या शाखाभेद के कारण है।

वेद को एक मानें या तीन या चार इससे कोई विशेष भेद नहीं पड़ता। यदि उसके मन्त्रों की संख्या निश्चित हो जाए तो इन ही मन्त्रों से 'अनन्ता वै वेदाः' चाहे जितने संग्रह बनाए जा सकते हैं और उनका विषय तथा प्रतिपाद्य की दृष्टि से कुछ भी नाम रखा जा सकता है।

वेदमन्त्रों के अर्थ

वेद अपौरुषेय हैं। उनकी भाषा किसी देश में प्रचलित नहीं है, इसलिए प्रत्येक मननशील व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार संगति लगाकर कुछ भी अर्थ कर सकता है, लेकिन पुरानी परम्परा को ध्यान में रखते हुए जो अर्थ जितना अधिक बुद्धिग्राह्य व विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुकूल होगा वह उतना ही मान्य होता चला जाएगा।

वेद के विद्वान् मानते आए हैं कि वेद के शब्दों को केवल रूढ़ न मानकर योगरूढ़ या यौगिक स्वीकार करना चाहिए। केवल रूढ़ अर्थ के आधार पर मन्त्रार्थ करने से बहुधा अनर्थ तथा मूर्खता की पराकाष्ठा हो जाती है। मध्यकालीन वेद भाष्यकारों के इस आग्रह ने वेद को हास्यास्पद बना दिया था, और इसीलिये महात्मा बुद्ध ने उसे त्याज्य घोषित कर दिया था।

ऋषि दयानन्द और श्री अरविन्द ने बुद्धिसम्मत अर्थ करके पुनः वेद को उचित स्थान दिलाया और उसकी प्रतिष्ठा स्थापित की।

वेद की सार्वदेशिकता

वेद का सम्बन्ध किसी एक देश या एक युग से नहीं है। वेद सार्वभौम तथा सार्वकालिक हैं। उदाहरण के लिए जनसंख्या की समस्या के सन्दर्भ में विचार करके देखने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। रूस में जनसंख्या कम है। वे देश की पुरुष शक्ति बढ़ाने के लिए—अपने देश में ५ पुत्र उत्पन्न करने वाली स्त्रियों को माता की मानद उपाधि से भूषित करते हैं। ऐसे देश के लिए वेद की निम्न व्यवस्था माननीय है "दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि" (ऋक् १०-८५-४५) ऐसी परिस्थिति में वेद १० पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा देता है।

इसके विपरीत भारत जैसे देश—जो अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या से परेशान हैं—के लिए बिल्कुल दूसरी व्यवस्था है। उनके लिए निर्देश हैं कि—"बहु प्रजा निर्ऋतिमाविवेश" अथर्व० ९-१५-१० अर्थात् बहुत सन्तान उत्पन्न करने वाला व्यक्ति, पापदेवता या भ्रष्टाचार का आश्रय लेने को बाध्य होता है और अन्त में कष्टमय जीवन व्यतीत करता है। यहाँ बहुत पुत्र न कहकर सन्तान कहा है। ऐसी परिस्थिति में पुत्र हो या न हो, दो से अधिक सन्तान का ही निषेध है। इस प्रकार वेद में सब कालों और सब परिस्थितियों के लिए निर्देश दिए गए हैं। जनसंख्याबहुल देशों के लिए एक व्यवस्था है, और बिरल जनसंख्या वाले देशों के लिए दूसरी व्यवस्था है।

वेद के ऋषि, देवता व छन्द

मन्त्राणामार्षेय छन्दो दैवतविद्।
अध्यापयन्याजयन्वा श्रेयोऽधि गच्छति ॥

वेद के स्पष्टार्थ के अतिरिक्त रहस्यार्थ तथा अन्तर्हित भाव को अच्छी तरह हृदयंगम करने के लिए मन्त्रों के ऋषि देवता और छन्द का ज्ञान आवश्यक माना गया है। इन तीनों का मन्त्रार्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। अन्यथा मन्त्र के साथ इन तीनों का अनिवार्य साहचर्य न माना जाता। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं कि ऋषि और देवता तथा छन्द ज्ञान के बिना वेद का पढ़ना बिल्कुल निरर्थक है।

जिस प्रकार भिषक् द्वारा निर्दिष्ट औषधि का गुण-दोष ज्ञान न होने पर भी रोगी को लाभ होता है, उसी प्रकार ऋषि तथा देवता का ज्ञान हुए बिना भी मन्त्रार्थ के ज्ञान, मनन और तदनुकूल आचरण के प्रयत्न से लाभ अवश्य होता है।

फल या औषध के गुणदोष का ज्ञान होने पर रोगी भी अपने अनुभव के आधार पर किसी दूसरे को औषध दे सकता है, या किसी को लेने से रोक सकता है। इसी प्रकार ऋषि देवता व छन्द के ज्ञान के अनन्तर मनुष्य उस मन्त्र द्वारा अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है, और दूसरों को अधिक लाभ पहुँचा सकता है। तथा अलाभकर स्थिति में उसके प्रयोग की व्यर्थ मेहनत से बच सकता है।

वेद मन्त्रों के अन्य शब्दों के समान ऋषि छन्द तथा देवतावाची शब्दों को भी यौगिक या योगरूढ़ समझना चाहिए। केवल रूढ़ अर्थ में लेने से यहां भी अनर्थ होता है तथा

इतिहास मानने की प्रवृत्ति होती है। इसके विपरीत यौगिक अर्थ मानने पर ये ऋषि-वाची शब्द व्यक्ति के लिए गुण बन जाते हैं।

वेद मन्त्रों के ऊपर दिये हुए नामों में, श्येन, तार्क्ष्य, कपोत्तादि पक्षी; सप्ति; सरमा आदि पशु; कूर्म मत्स्य आदि जलचर और सर्प, गोधा आदि रेंगने वाले जन्तु भी सम्मिलित हैं। इन्हें मन्त्रों का कर्त्ता तो किसी भी तरह नहीं माना जा सकता। हां, ऋषियों को द्रष्टा मानने वालों के दृष्टिकोण से इन पशु पक्षियों को अपने आचरण द्वारा प्रेरणा देने के कारण मार्ग दर्शयिता गुरु मानकर समाधान किया जा सकता है।

वेदों के कुल ऋषि ४५७ हैं। इनमें से ७१ ऋषि और देवता दोनों हैं।

छन्द

अर्थेप्सव ऋषयो देवता छन्दोभि उपधावन्। सर्वा०

छन्द ऋषियों तथा देवताओं की सवारी (वाहन) हैं। जैसे मनुष्य सवारी पर बैठकर जहां चाहे जा सकता है, वैसे ही ऋषि और देवता छन्दों पर सवार होकर लोक-लोकान्तर का भ्रमण करते हैं। जैसे मनुष्य अपने को छाते से ढककर धूप और वर्षा से अपनी रक्षा करता है, उसे सूर्य और बादल परेशान नहीं कर पाते; वैसे ही ऋषि और देवता छन्दों से अपने को ढककर तिरोहित हो जाते हैं, मूर्ख लोग उन्हें ढूंढ़ नहीं सकते, वे छन्दों के अक्षरों में ही उलझे रह जाते हैं।

छन्द शैली है। भिन्न-भिन्न राग की तरह, छन्दों का भी समय और विषय के हिसाब से अवसर के अनुरूप प्रयोग किया जाता है। वेद में इन छन्दों का भी प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्ध होता है। छन्द ज्ञान अर्थ में सहायक है, जैसे मनुष्य वाहन पर बैठकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है, वैसे ही इन छन्दों के अर्थ द्वारा उपदिष्ट आचरण को अपनाकर वह कहीं से कहीं पहुँच सकता है।

छन्द का अर्थ है वाणी। वाणी के बिना ज्ञान का आदान-प्रदान संभव नहीं है। इसलिये वेद (ज्ञान) के अर्थ को समझने के लिये ऋषि और देवता छन्दों का आश्रय लेते हैं। छन्दों का प्रयोग जाने और किये बिना वेद को समझना या समझाना सम्भव नहीं है। लेकिन छन्दः शास्त्र का ज्ञान न होने पर भी मन्त्रार्थ का ज्ञान और आचरण तो लाभ पहुंचाता ही है।

देवता

देवतावाची शब्द मन्त्र में वर्णित विषय की ओर संकेत करते हैं। जैसे अग्नि, इन्द्र, आत्मा, उर्वशी, रथ, अश्वः आदि शब्द मन्त्रों पर देवतावाची दिये हुए हैं। अर्थात् उस-उस मन्त्र में इन शब्दवाची पदार्थों के गुण दोषों का वर्णन हुआ है, लेकिन ये देवता-वाची शब्द भी यौगिक हैं। अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति करने पर इस एक शब्द से प्रसंग के अनुसार परमात्मा, आत्मा, नेता, आग, विद्युत्, सूर्य, ब्राह्मण आदि किसी भी पदार्थ का ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार इन्द्र=ऐश्वर्यवान् से परमात्मा, आत्मा, मन, शरीर, राजा, क्षत्रिय किसी भी पदार्थ का ग्रहण हो सकता है।

देव और देवता

"देवो दानाद्वा"—जो कुछ देता है, वह देव। इस दृष्टि से परमात्मा और जीवात्मा

तथा प्रकृति तो देव हैं ही। इनके अतिरिक्त सूर्य प्रकाश देने से, वायु प्राण देने से, जल जनन शक्ति प्रदानकरने से, देव कहलाते हैं। गुरु ज्ञान देता है, माता-पिता जन्म व पोषण देते हैं, राजा शासन व व्यवस्था देता है, न्यायाधीश न्याय देता है। अतः ये सब भी देव हैं।

"देवो दीपनाद्वा द्योतनाद्वा"— जो स्वयं दीप्त है और दूसरों को दीप्ति देता है, वह भी देव है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा ज्ञान, बल, धन, भी देव हैं। यदि कोई व्यक्ति नदी, वृक्ष, पर्वत पशु या पक्षी से कुछ शिक्षा ग्रहण करता है तो उसकी दृष्टि में ये जड़ पदार्थ भी देव या गुरु अथवा ऋषि कहला सकते हैं। वेद में जब इन्हीं देवों के सम्बन्ध में कुछ वर्णन होता है तब इन्हीं देवों को देवता कह देते हैं। देवता शब्द वेद का पारिभाषिक शब्द है, इसलिए वेद में देवता चेतन हैं, जड़ भी हैं, बड़े हैं, छोटे भी हैं, अवयवी हैं, अवयव भी हैं।

ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ किसी-न-किसी दीप्ति (विशेषता) से युक्त होने के कारण दिव्य है, देव है, किन्तु जब तक वह किसी वेदमन्त्र का प्रतिपाद्य विषय न हो, तब तक उसे देवता नहीं कह सकते। 'यस्य देवा देवताः सम्बभूवुः' अ० १९-४-४।

वेद में कुल देवता ४७६ हैं, जिनमें से ७१ ऋषि भी हैं।

ऋषि

वेद के देवतावाची शब्दों में से अग्नि, इन्द्र, और आत्मा शब्द ऋषिवाची भी है। ऋषिवाची शब्द भी यौगिक हैं। अर्थात् कोई भी आगे बढ़ने वाला— प्रगतिशील व्यक्ति या पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होगा। यह अग्नि—ऋषिः = मन्त्रार्थद्रष्टा या मन्त्रार्थ दर्शयिता भी हो सकता है और देवता = मन्त्र का विषय अर्थात् प्रतिपाद्य भी हो सकता है। इसी प्रकार ऐश्वर्य की कामना करने वाला कोई भी व्यक्ति— इन्द्र ऋषि कहलाएगा, और ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्ति—इन्द्र देवता कहलाएगा।

वेद के ऋषियों में माषाः, मत्स्यः, प्रयोगः शब्द भी परिगणित हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि इन मन्त्रों को उड़द की दाल या मछली या प्रयोग नामक व्यक्ति ने समझा और देखा था। वेद के शब्दों का यदि केवल रूढ़ अर्थ मानें तो इस समस्या का हल सम्भव नहीं, लेकिन यौगिक अर्थ को स्वीकार करते ही शत्रुओं का नाश करने वाला व्यक्ति या पदार्थ 'माष' सदा प्रसन्न रहने वाला 'मत्स्य' और प्रत्येक समस्या का प्रयोग करके समाधान करने वाला—'प्रयोग' कहलाएगा और ऐसा व्यक्ति या पदार्थ ऋषि हो सकता है। अर्थात् मन्त्रार्थ की भावना का उपदेश करने के कारण वह मार्गदर्शक या गुरु कहला सकता है।

समन्वय

कुछ शब्द ऋषि और देवता दोनों की सूचियों में हैं। इससे संकेत मिलता है कि ऋषि और देवता में कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि—

१—ऋषिवाची शब्द के यौगिक अर्थ से प्रेरणा लेकर अपने आचरण को तदनुरूप बनाने वाला मनुष्य भी उसी ऋषि पद को प्राप्त कर सकता है।

२—ऋषि के आचरण के समान आचरण बनाकर वह उस मन्त्र के देवता पद

को भी प्राप्त कर सकता है। अर्थात् देवता का सखा = समानख्यान बनने के लिए उस मन्त्र के ऋषि के गुणों को अपने आचरण में ढालना आवश्यक है। अथवा दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जब तक वेद का कोई जिज्ञासु ऋषि शब्द की भावना को पूरी तरह आत्मसात् नहीं कर लेता, वह उस मन्त्र के देवता का साक्षात्कार नहीं कर सकता और मन्त्र के रहस्यार्थ को भी पूरी तरह समझ नहीं सकता।

मनुष्य के पांच रूप

सामान्य चर्मचक्षुओं से देखने वाला (पश्यति), अथवा अज्ञान के बन्धन (पाश) से घिरा हुआ व्यक्ति 'पशु' है। इन चक्षुओं पर पूर्ण निर्भर न होकर मन द्वारा मनन करने वाला व्यक्ति 'मनुष्य' है। गृहस्थ बनकर परिवार का पालन करने वाला 'पितर' है। दर्शन और मनन के उपरान्त पदार्थ की आत्मा (गोत्व इत्यादि सामान्य जाति) व अन्तर्हित रहस्य को समझने वाला तथा समझने के अनन्तर उस प्रेरणा को अपने जीवन में आचरण द्वारा उतारने वाला 'ऋषि' है। अपने जीवन यापन द्वारा दूसरों का मार्ग-दर्शन करने के उपरान्त अपने जीवन को ही परार्थ के निमित्त दान करने वाला 'देव' या देवता बनता है।

इस प्रकार ऋषि और देवता के सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। इन पर जितना अधिक विचार होगा और इनमें जितनी समस्वरता दिखायी देगी, वेदमन्त्र भी अपने रहस्यार्थ को उसी अनुपात में खोलते चले जाएँगे और मननकर्त्ता जिज्ञासु उनसे अधिक लाभ लेने में समर्थ होंगे।

देवता सरस्वती

वैदिक देवियों में सरस्वती देवता के कुल ५८ मन्त्र हैं, इसलिए इन सब मन्त्रों का देवता सरस्वती है। यौगिक अर्थ-शैली के अनुसार इसके—एक नदी, वाणी, वेद-वाणी, संस्कृति, प्रगतिशील परिस्थिति, गाय, स्त्री—आदि अनेक अर्थ किए जा सकते हैं।

ऋक् मन्त्र २-४१-१६ 'अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति' के विश्लेषण से प्रतीत होता है कि वेद स्वयं सरस्वती शब्द से मातृत्व की कामना करने वाली स्त्री, शब्द-मयी वाणी, दिव्य वेदवाणी तथा अव्यक्त रूप संस्कारों द्वारा समृद्धि देने वाली संस्कृति, कलकल और नादिनी जल प्रवाहिका नदी के ग्रहण का संकेत करता है।

प्रसंगानुसार इन अर्थों में से कोई भी अर्थ सरस्वती देवता वाले मन्त्रों का प्रति-पाद्य हो सकता है। कई बार एक ही मन्त्र देखने वाले ऋषि के ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर भिन्न-भिन्न अर्थों का ज्ञापक हो सकता है और वे सब अर्थ अपने-अपने क्षेत्र में सत्य और पूर्ण हो सकते हैं।

देवता सरस्वान्

सामान्यतया पुरुष या पति के नाम से स्त्री या पत्नी का नाम पड़ता है। यथा रुद्र की पत्नी रुद्राणी और इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी। पुमान् के सम्बन्ध में अधिक मन्त्र होने से उन मन्त्रों का देवता भी पुमान् होता है, लेकिन सरस्वान् और सरस्वती के सम्बन्ध में बात उल्टी है। सरस्वती अधिक मन्त्रों की देवता है, और सरस्वान् कम मन्त्रों का देवता

है। इससे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि शायद स्त्री देवता सरस्वती के कारण पुरुष देवता का नाम सरस्वान् पड़ गया है।

सरस्वती के ऊपर निर्दिष्ट अर्थों को ध्यान करने पर, सरस्वान् शब्द से समुद्र, वेद या परमात्मा, राष्ट्र, प्रगतिशील पुरुष, वृषभ, सोम अथवा पितृत्व की कामना करने वाले मनुष्य का भी ग्रहण किया जा सकता है।

सरस्वती देवता के सहचारी देवों वाले मन्त्र यहां संगृहीत नहीं किए गए, क्योंकि उन मन्त्रों में सरस्वती के किसी गुण या कार्य पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, केवल विस्तार होता है।

सरस्वती देवता वाले मन्त्रों के ऋषि

इस देवता वाले मन्त्रों के ऋषि प्रायः मधुच्छन्दाः वैश्वामित्रः, दीर्घतमा औचथ्यः, गृत्समदः, भार्गवः शौनकः, भौमोऽत्रिः, ऋजिश्वा भारद्वाजः, बार्हस्पत्यो भारद्वाजः, मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः, प्रगाथः, देवश्रवा यामायनः, अथर्वा, ब्रह्मा, वामदेवः, शन्तातिः, सूर्या सावित्री, या प्रस्कण्वः में से कोई है।

इन शब्दों के यौगिक अर्थों में मतभेद या सुधार की सम्भावना सदा रहती है, फिर भी इन ऋषिवाची शब्दों के यौगिक अर्थ और मन्त्र में आए शब्दों के अर्थों में सम्बन्ध देखकर मन्त्र के अर्थ स्पष्ट और संगत प्रतीत होते हैं।

इन ऋषियों में से कुछ के साथ गोत्र नाम भी जुड़े हैं। यह गोत्र नाम संकेत करता है कि उस गोत्रवाची नाम से निर्दिष्ट गुण को अपनाने से उस मन्त्र का ऋषि बनना आसान हो जाता है। उदाहरण के लिए 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' आया है। मधुच्छन्दा का अर्थ है कि मधुर इच्छाओं वाला-–सबका कल्याण चाहने वाला। इसके साथ वैश्वामित्रः' जुड़ा है, जो विश्वामित्र गोत्र की ओर संकेत करता है। विश्वामित्र शब्द का अर्थ है– सबके साथ मित्रता की भावना रखने वाला। इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि मनुष्य विश्वामित्र बन जाए तो उसके लिए मधुच्छन्दाः बनना आसान हो जाता है।

गोत्रवाची प्रत्यय वंशानुगत गुण (हेरिडिटी) की प्रकृष्टता को भी सूचित करता है। यथा विश्वामित्रः– सबके साथ मित्रता की भावना रखता है, तो उस गोत्र में उत्पन्न वैश्वामित्रः– विश्वामित्र की अपेक्षा, सबके साथ मित्रता की भावना रखने में अवश्य कुछ बेहतर (उत्कृष्ट) होगा। इसी प्रकार भरद्वाज की अपेक्षा भारद्वाज में, और यम की अपेक्षा यामायन में गोत्र का गुण अधिक होना चाहिए। ये गोत्र प्रत्यय गुरु शिष्य सम्बन्ध को भी दर्शाते हैं। यथा विश्वामित्र का शिष्य वैश्वामित्र।

त्रिक या त्रिवृत्

वेद में त्रिक (तीन का समूह) का बहुत महत्व है। जैसे ब्रह्म शब्द एक होते हुए भी ज्येष्ठ, अहं तथा अचित्तं विशेषणों से मिलकर त्रिवृत् हो जाता है। पुरी—पुरुष और महान् पुरुष का एक त्रिक है। वृक्ष पर बैठे हुए दो सुपर्णों के रूप में एक तीसरा त्रिक है। तीन लोक, तीन भूमियां, तीन द्यावः का भी वर्णन आया है। इन वैदिक त्रिकों के आधार पर ही पुराणकर्त्ताओं ने एक ब्रह्म के तीन कार्यों के कारण ब्रह्मा विष्णु महेश रूपी

एक त्रिक की कल्पना की, तत्पश्चात् इनकी पत्नियों या शक्तियों के रूप में, सरस्वती लक्ष्मी दुर्गा का नया त्रिक बना लिया।

त्रिदेवी

वेद के त्रिदेव हैं—१. अग्नि, २. (वायु या इन्द्र) और ३. सूर्य। जगत् में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीन लोक हैं। ये तीनों देव क्रमशः एक-एक लोक के मुख्य देव हैं। वस्तुतः ये तीनों एक ही अग्नि (प्रगतिशीलता) के तीन रूप हैं। अथवा एक सूर्य (ऊर्जा) के तीन अभिव्यञ्जन (प्रकाश) हैं। पृथ्वी पर अग्नि की, अन्तरिक्ष में वायु या इन्द्र (विद्युत्) की और द्युलोक में सूर्य की स्थिति, क्रिया और महत्त्व एक समान हैं। यह आधिदैविक जगत् की बात है।

आध्यात्मिक जगत् में स्थूल, सूक्ष्म या कारण शरीर अथवा देह, मन और आत्मा, अग्नि, वायु या इन्द्र और सूर्य द्वारा पुष्ट होते हैं, इन आधिदैविक देवों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इनके महत्त्व को प्रदर्शित करते हैं।

पौराणिक देवों का विभाग सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय रूपी कार्यों द्वारा हुआ है और वैदिक देव अग्नि, इन्द्र तथा सूर्य का स्थान (लोक) की दृष्टि से विभाग किया गया है।

अग्नि पृथ्वी लोक का देव है, और इला स्वयं पृथ्वी है। इन्द्र या सरस्वान् (पर्जन्य) अन्तरिक्ष का देव है और सरस्वती (विद्युत्) अन्तरिक्ष लोक की प्रकाशिका है। सूर्य या आदित्य द्युलोक का देव है और मही (विस्तृति या महत्ता रूपी शक्ति) इस लोक का प्रतिनिधित्व करती है।

वेदों में भी तीन देवियों की चर्चा है, किन्तु वहाँ सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा के स्थान में इला, सरस्वती, मही अथवा इला, सरस्वती तथा भारती हैं। ये तीनों देवियां भी देव-माता अदिति की पुत्रियाँ हैं।

वैदिक देवों की तरह वैदिक देवियां भी स्थान की दृष्टि से विभक्त हैं, किन्तु इन देवियों को पौराणिक देवियों की तरह आधिदैविक देवों की सहायिका—पूरिका शक्ति या पत्नी समझा जा सकता है।

देवी सरस्वती

वैदिक देवियों में सरस्वती देवता के मन्त्र संख्या में थोड़े (केवल ५८) हैं, किन्तु इस देवी का स्थान तथा कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सरस्वती देवता के मन्त्र

(१) पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः।

—ऋक् १-३-१०

ऋषिः—मधुच्छन्दाः वैश्वामित्रः। छन्दः—गायत्री।
मधुच्छन्दाः—मधु (मधुर) + छन्दः वचनं सः।
शब्दार्थ—(पावका) अपने सम्पर्क में आने वालों को पवित्र करने वाली

(सरस्वती) संस्कारवती देवी (वाजेभिः) ज्ञान, बल, धन, अन्न आदि समृद्धि कारक पदार्थों को धारण करने तथा देने के कारण (वाजिनीवती) समृद्धिशालिनी (धियावसुः) बुद्धियुक्त कर्मों द्वारा सबको वास देने वाली बनकर (नः) हमारे (यज्ञं) देव-पूजा-संगतिकरण तथा दानमय कर्मों को (वष्टु) चाहे, कान्तियुक्त करे तथा सफल बनाए।

निष्कर्ष—१. ऋक् २-४१-१६ संकेत करता है कि सरस्वती के तात्पर्य (क) दिव्यता के संस्कारों को आधान करानेवाली संस्कृति (देवितमा) (ख) मातृत्व की कामना करने वाली विदुषी स्त्री या पत्नी (अम्बितमा) (ग) अव्यक्त ज्ञान को व्यक्त रूप में प्रकट करने वाली वाणी (नदीतमा) (घ) नदी जैसे जल को, वैसे ही ज्ञान को प्रवाह रूप में बहाने वाली वेदवाणी, (ङ) नदी की तरह प्रवाहित होने वाली कोई प्रवृत्ति या नदी में से कोई या सभी हो सकते है। प्रकरण वश इनमें से कोई भी अर्थ अथवा इनके द्वारा प्रत्यायनीय संस्कृति या ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी, जैसा अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

२. इस मन्त्र में वर्णित गुणों वाली सरस्वती देवी हमारे श्रेष्ठ कर्मों (यज्ञ) में सहायक होकर, दूसरों के लाभ के लिए इन गुणों को अधिकाधिक प्रकाशित व प्रसारित करें।

३. हमारी यह प्रार्थना तभी सफल हो सकती है जब हम इस मन्त्र के ऋषि द्वारा संकेतित गुण मधुच्छन्दा (मधुर भावना वाले बनकर) सबके साथ मित्रता का व्यवहार करने वाले विश्वामित्र के पुत्रवत् बर्ताव करेंगे।

(२) **चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती।**

—ऋक् १-३-११

ऋषिः—मधुच्छन्दाः वैश्वामित्रः। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(सूनृतानां चोदयित्री) सत्य तथा मधुर वचनों की प्रेरणा देने वाली अथवा अन्न धन से युक्त जनों को सत्कर्म में प्रेरणा व उत्साह देने वाली, (सुमतीनां चेतन्ती) सुबुद्धि युक्त जनों को चेतन करने वाली (सरस्वती) संस्कृति, वाणी तथा गृहिणी (यज्ञं दधे) श्रेष्ठ कर्मों को धारण (पूरण) करती है।

निष्कर्ष—संस्कृति राष्ट्र में, सूनृतावाणी समाज में, तथा विदुषी गृहिणी घर में शुभ कर्मों के प्रसार तथा प्रचार का कारण होती है।

विदुषी गृहिणी से घर की शोभा बढ़ती है और पति कान्तियुक्त (कान्त) बन जाता है। मधुर तथा सत्य वाणी का प्रयोग करने वाले मनुष्यों का समाज सदा कान्त (उजागर) रहता है। और संस्कृति के अव्यक्त संस्कार प्रत्येक सदस्य में प्रविष्ट होकर सारे राष्ट्र को, दूसरों की दृष्टि में स्पृहणीय तथा अनुकरणीय बना देते हैं।

(३) **महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति ॥**

ऋक् १-३-१२

ऋषिः—मधुच्छन्दाः वैश्वामित्रः। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(सरस्वती) सरस्वती देवी (केतुना) अपने ज्ञानपूर्ण व्यवहार से (महः अर्णः) अगाध समुद्र को (प्रचेतयति) चेतनायुक्त कर देती है और (विश्वा धियः) सब कर्मों पर (वि) विशेष रूप से (राजति) विराजमान रहती है।

निष्कर्ष—सद्गृहिणी (सरस्वती) अपने ज्ञानपूर्ण मधुर व्यवहार से जड़ से दीखने

वाले गृहस्थ समुद्र को आमोद-प्रमोद के कार्यों द्वारा तरंगित कर देती है। अनेक विध गतियों द्वारा घर में चेतना का संचार कर देती है, और गृहस्थी के प्रत्येक कार्य में विराजमान रहकर उसे चमका देती है।

मधुर व सत्यवाणी (सरस्वती) का व्यवहार समाज में नई चेतना का संचार उत्पन्न करके प्रत्येक सदस्य को कर्त्तव्य पालन में लगाए रहता है।

संस्कृति (सरस्वती) का अव्यक्त प्रभाव सारे राष्ट्र में नई चेतना का सृजन करके, उसे दूसरों के लिए स्पृहणीय बना देता है। इस प्रकार वह राष्ट्र विश्व संगठन में मूर्धन्य बन जाता है।

(४) **यस्ते स्तनः शशयो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि ।**
यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ।।

—ऋक् १-१६४-४९

ऋषिः—दीर्घतमा औचथ्यः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वति देवि ! (ते) तेरा (यः) जो (स्तनः) स्तन दान (शशयः) शान्ति देने वाला तथा (मयोभूः) कल्याण करने वाला है, (येन) जिस स्तन दान द्वारा (विश्वा वार्याणि पुष्यसि) समस्त वरणीय पदार्थों व भावों का पोषण करती है। तेरा जो स्तन दान (इह) वर्तमान जीवन में (रत्नधा) रमणीय पदार्थों को धारण कराने वाला (वसुविद्) निवास को प्राप्त कराने वाला तथा (सुदत्रः) सम्यक् रूप से—न कम न अधिक—पुष्टि देने वाला है (तम्) उस स्तन को (धातवे) सब प्रकार के शारीरिक व मानसिक धारण के लिए (कः) प्रयुक्त कर।

निष्कर्ष—मातृ रूप में सरस्वती द्वारा प्रदत्त स्तन का दूध बच्चे को सब प्रकार से सम्यक् पुष्टि देता है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ अधिक मात्रा में सेवन किया हुआ हानिकर होता है। लेकिन माता का स्तन कभी अधिक मात्रा में लिया ही नहीं जा सकता।

वाणी रूप में सरस्वती द्वारा किया हुआ सत्य मधुर व्यवहार, मेघ गर्जन के सदृश आनन्ददायक तथा समाज को रमणीय बना देता है। संस्कृति रूपा सरस्वती, अव्यक्त ध्वनि (स्तनः शशयः) रूप में संस्कार प्रदान करके भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट कार्यों द्वारा प्रसिद्ध तथा राष्ट्र द्वारा सम्मानित पुरुष रत्नों को पुष्ट करती है—प्रकट करती है।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा (तम=अंधकार, अज्ञान को विदीरण करने वाला) तथा औचथ्यः (उचितेषु कर्मसु साधुः स्वामी-दया) उत्तम कर्मों को प्रवीणता से करने के कारण प्रशंसनीय है। यह अपने नाम तथा आचरण से संकेत करता है कि—(क) जो मनुष्य अनुचित कार्यों को त्याग कर उचित कर्म प्रवीणता से करते हैं। (ख) अज्ञान का नाश तथा ज्ञान का प्रसार करते हैं। उन्हें घर में, समाज में व राष्ट्र में सब प्रकार के वरणीय पदार्थ, रमणीय स्थिति और सम्यक् दान प्राप्त होते हैं।

(५) **सरस्वति त्वमस्माँ अविड्ढि मरुत्वती धृषती जेषि शत्रून् ।**

—ऋक् २-३०-८

ऋषिः—गृत्समदः (आंगिरसः शौन होत्रः) पश्चाद्भार्गवः शौनकः। त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—हे (सरस्वति) सदा प्रवाहमय—प्रगतिमय रहने वाली देवि (त्वम्) तू

(अस्मान्) हमें (अविड्ढि) रक्षा, वृद्धि, प्रगति तथा तृप्ति प्रदान कर। और (मरुत्वती) सुन्दर रूप तथा स्वस्थ प्राण प्रदान करने वाली देवी (शत्रून्) शत्रुता रखने वाले पदार्थ, भाव तथा व्यक्तियों का (धृषती) पराभव करती हुई (जेषि) उन पर विजय प्राप्त करती है।

विशेष—गृत्समदः—(गृणाति+माद्यति) परमेश्वर के गुणगान करते हुए यथा-प्राप्त स्थिति में मस्त रहने वाला भजनानन्दी ही गृत्समद होता है।

आंगिरसः—अपने अंग-अंग में रस का संचय करके, प्राणों की साधना करने वाले अंगिरस का पुत्र आंगिरस बनता है। तदनन्तर—

शौन होत्रः—अपने शुन (सुख) का दूसरों के लिए (होत्र) हवन-त्याग करने वाले शुन होत्र का पुत्र शौन होत्र कहाता है।

निष्कर्ष—जो भजनानन्दी बनेगा, प्राणों की साधना करेगा और तदनन्तर प्राप्त सुख-सुविधाओं को दूसरों के लिए त्यागने को सदा उद्यत रहेगा—सरस्वती देवी उसी के शत्रुओं का पराभव करके उसकी रक्षा करेगी, उसे प्रगति प्रदान करेगी, उसकी वृद्धि करेगी और उसे तृप्त करेगी।

(६) **अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।**
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥ —ऋक् २-४१-१६

ऋषिः—गृत्समदः आगिरसः शौनहोत्रः पश्चाद् भार्गवः शौनकः। अनुष्टुप्।

शब्दार्थ—गृहस्थपरक—हे (अम्बितभे) मातृत्व की कामना करने वाली अथवा माताओं में आदर्श (श्रेष्ठ) (सरस्वति) विदुषि स्त्रि ! तेरी सम्यक् देखरेख के अभाव में (अप्रशस्ता इव स्मसि) हम उपेक्षित से और असंस्कृत हो गए हैं। (अम्ब नः प्रशस्तिं कृधि) हे मार्गदर्शक माता हमें प्रशस्ति प्रदान कर (प्रशंसनीय) बना दे।

समाजपरक—हे (नदीतमे) नदियों में श्रेष्ठ अथवा शब्दव्यवहार के प्रसार की इच्छा वाली (सरस्वति) सरस्वती नदी अथवा वाणी हम तेरे द्वारा उचित मात्रा में जल अथवा ज्ञान-शिक्षा न मिलने के कारण; उपेक्षित भूखे अथवा अप्रसिद्ध रह गए हैं। उन हमारे लिए जल प्रदान द्वारा खेतियों को प्रशस्त बनाकर भोजन का प्रबन्ध कर। तथा ज्ञान प्रदान द्वारा हमें प्रशस्त बनाकर प्रसिद्ध कर।

राष्ट्रपरक—(देवितमे) प्रत्येक दिव्य भावना की कामना करने वाली अतएव देवियों में सर्वश्रेष्ठ (सरस्वति) हे संस्कृति देवि ! तेरी उपेक्षा के कारण हम (अप्रशस्ता इव) बिल्कुल अज्ञात असंस्कृत रह गए हैं, हे (अम्ब) संस्कृति माता ! तू (नः) हमें अपनी अव्यक्त प्रेरणा के संचरण द्वारा (प्रशस्तिं कृधि) प्रसिद्धि व प्रशस्ति प्रदान कर।

निष्कर्ष—जब तक घर में माता, समाज में शिक्षा संस्थाएँ और राष्ट्र में व्याप्त संस्कृति तथा भौगोलिक दृष्टि से नदियाँ कर्त्तव्य पालन करके अपना उचित देय भाग नहीं देतीं, तब तक घर समाज तथा राष्ट्र उपेक्षित, अप्रशस्त और अज्ञात रहते हैं। जब जहाँ सरस्वती के जिस रूप की कृपा हो जाती है, वहीं प्रशस्ति-प्रसिद्धि तथा समृद्धि व्यापने लगती है। और वह व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र मूर्धन्य बन जाते हैं।

विशेष—इस मन्त्र में सरस्वती देवी के तीन विशेषण दिये हैं। जो प्रकट करते

हैं कि सरस्वती देवता से किस-किस का ग्रहण हो सकता है। यह मन्त्र इस देवता के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला रहस्योद्घाटक मन्त्र है।

(७) त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूँषि देव्याम्।
शुन होत्रेषु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ।। —ऋक् २-४१-१७

ऋषिः, छन्दः—पूर्ववत्।

शब्दार्थ—हे (सरस्वति) सरस्वति देवि (विश्वा आयूंषि) जीवनोपयोगी सारे साधन (देव्यां त्वे श्रिता) तेरे अधीन हैं। इसलिए हे देवि तू (शुन होत्रेषु) दूसरों को सुख देने वाले अथवा योग द्वारा उत्पन्न ज्ञान वाले व्यक्तियों में (मत्स्व) प्रसन्न रह, उन्हें तृप्त कर और (नः) हमें (प्रजां) उत्तम व्यवहार, पदार्थ तथा सन्तान (दिदिड्ढि) दे।

निष्कर्ष—सरस्वती देवी के तीनों रूप पृथक्-पृथक् दृष्टि से पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में प्रजा को देने वाले हैं। जीवनोपयोगी सब साधन सरस्वती देवी के आधीन होते हैं।

(८) इमा ब्रह्म सरस्वति जुषस्व वाजिनीवति।
या ते मन्म गृत्समदा ऋतावरि प्रिया देवेषु जुह्वति ।। —ऋक् २-४१-१८

ऋषिः—पूर्ववत्। छन्दः—वृहती।

शब्दार्थ—हे (वाजिनीवति) सब प्रकार की समृद्धियों से सम्पन्न (ऋतावरि) जल, सत्य तथा नियत गति से युक्त (सरस्वति) सरस्वति देवि (गृत्समदाः) आनन्द को ग्रहण करने वाले भजनानन्दी विद्वान् (देवेषु) दिव्यता की कामना वाले विद्यार्थियों में (ते) तेरे (या प्रिया मन्म) जिन प्रिय व मननीय (ब्रह्म) ज्ञानों की (जुह्वति) आहुति द्वारा स्थापना करते हैं (इमा जुषस्व) इन ज्ञान गोष्ठियों का सेवन कर और इन गुरु-शिष्यों को सार्थक बना कर प्रसन्न कर।

(९) आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम्।
हवं देवी जुषमाणा घृताची शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु ।।

—ऋक् ५-४३-११

ऋषिः—भौमोऽत्रिः।छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(यजता) संगति करने योग्य (घृताची) दीप्तिदान से शोभित करने-वाली (सरस्वती देवी) शिक्षा और वाणी तथा संस्कृति की अधिष्ठात्री देवी (दिवो बृहतः पर्वताद) दिव्य किन्तु उद्यमसाध्य ब्रह्मचर्यादि हेतु से (शग्मां वाचं जुषमाणा) शान्त वाणी का सेवन करती हुई (उशती) उत्थान करने की कामना से (नः हवंशृणोतु) हमारी पुकार को सुने और (नः यसंज्ञमाआगन्तु) हमारे श्रेष्ठ विद्याव्यवहार तथा कर्म में प्रकट हो आवे।

योगमार्ग परक अर्थ—(यजता) संगति करने योग्य (बृहतः दिवः पर्वताद् आ घृताची) उद्यम साध्य दिव्य पृष्ठ वंश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बार-बार दिव्य रूप से, गमनागमन करनेवाली कुण्डलिनी शक्ति (उशती) योगमार्ग में उत्थान की कामना से (शग्मां वाचं शृणोतु) शान्त मौन वाणी को सुने और वह इडा पिंगला के मार्ग को छोड़कर सुषुम्णा=सरस्वती मार्ग से गति करनेवाली बनकर (हवं जुषमाणा) आन्तर अभीप्सा का सेवन करती हुई (यज्ञमागन्तु) हमारे ध्यान यज्ञ में प्रकट हो—आवे।

निष्कर्ष—पृष्ठवंश को दिव्यपर्वत कहते हैं, क्योंकि इसमें पर्व होते हैं। इस पर्वत में स्थित चक्रों में प्रकाश करती हुई कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार से सहस्रार तक और सहस्रार से मूलाधार तक गति करती रहती है। इसलिये इसे सरस्वती कहते हैं।

सामान्यतया ये प्राण इडा पिंगला या गंगा-यमुना के मार्ग से गति करते हैं। जब वे सुषुम्णा या सरस्वती के मार्ग से गति करने लगते हैं, तब कुण्डलिनी जागरण होता है। और तब यह जागृत कुण्डलिनी हमारे यज्ञ में पधारकर ध्यानयोग को कृतार्थ करती है।

कुण्डलिनी शक्ति सरस्वती=सुषुम्णा मार्ग से संगति करने पर ही जागृत होती है। इसलिए यहाँ सरस्वती शब्द से सरस्वती मार्ग में स्थित कुण्डलिनी शक्ति का ग्रहण किया गया है।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि भौमः=भूमि पर चलनेवाला मनीषी है। वह आकाश की उड़ानों के स्वप्न नहीं लेता रहता, और असफलताओं या अभावों का ध्यान करके सदा निराशा में नहीं डूबा रहता। वह यथार्थ स्थिति को समझकर उसी में सन्तुष्ट रहकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सदा प्रयत्नशील बना रहता है। इसीलिए वह अत्रि (अ+त्रि=काम-क्रोध-लोभ तथा त्रिविध दुःख से रहित) है।

इस ऋषि के आचरण से प्रेरणा लेकर जो भी यथार्थ स्थिति को समझकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सतत प्रयत्नशील रहेगा वह भी इस मन्त्र का द्रष्टा भौम अत्रि बन जाएगा। इस मन्त्र के ऋषि बनने पर ही इस मन्त्र की देवता सरस्वती देवी उस पर अनुग्रह करेगी।

(१०) पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात्।
ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत्॥

—ऋक् ६-४९-७

ऋषिः—ऋजिश्वा भरद्वाजः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(कन्या) कान्तियुक्त कमनीय (पावीरवी) स्वयं पवित्र तथा दूसरों को पवित्रता प्रदान करनेवाली (चित्रायुः) जीवन में चित्र-विचित्र अन्न=भोग प्रदान करनेवाली (वीर पत्नी) वीरों का पालन करनेवाली (सरस्वती धियं धात्) सरस्वती, बुद्धि तथा कर्म को सफलता के साथ धारण करती है। (ग्नाभि;) देवपत्नियों=दिव्य पालन शक्तियों तथा छन्दोभिः=मधुर कामनाओं के साथ (अच्छिद्रं) दोषरहित (शरणं) घर—विषय या क्षेत्र में (सजोषा) साथ-साथ प्रीति करनेवाली सरस्वती देवी (गृणते) संस्कृति के साधक के लिए (दुराधर्षं) अप्रतिम (शर्म) सुखमय शान्ति (यंसत्) प्रदान करती है।

निष्कर्ष—यदि पति-पत्नी पवित्र और भोग सम्पन्न होने के साथ-साथ, दिव्य शक्तियों की कामना के लिए, समान क्षेत्र में समान रुचिवाले होंगे तो वे सदा सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

विशेष—ऋजिश्वा (ऋजु+श्वि गतौ) हृदय में सरलता धारण करके प्रगति करनेवाला ऋजिश्वा ही, समृद्धि (वाज+भर) को धारण करनेवाले ऋषि भरद्वाज के ऋषि समान भरद्वाज बनकर सरस्वती को प्रसन्न कर सकता है। तभी उसकी प्रार्थना पूरी हो सकती है।

(११) इयमदाद् रभसमृणच्युतं दिवो दासं वध्र्यश्वाय दाशुषे।
या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति ॥

—ऋक् ६-६१-१

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—जगती।

शब्दार्थ—(इयं) यह परमविदुषी मातृत्वकामास्त्री (वध्र्यश्वाय) वर्धनशील तथा गतिशील कर्मेन्द्रियों वाले (दाशुषे) दानशील तथा उदार मनुष्य के लिए (रभसम्) शीघ्रता से कार्य करने वाले (ऋणच्युतम्) सब प्रकार के ऋणों को समाप्त करने वाले (दिवोदासं) आनन्द, दीप्ति तथा प्रगति से युक्त पुत्र (अदात्) प्रदान करती है। और (या) जो मातृरूपा सरस्वती (शश्वन्तं) सदा ही (अवसं पणिं) हिंसा स्वार्थ तृप्ति और वणिग्वृत्ति को (आचखाद) खाकर समाप्त कर देती है। इस प्रकार हे देवि (ते दात्राणि) तेरे उपरोक्त दान (तविषा) महान् हैं।

निष्कर्ष—(१) मातृरूपा सरस्वती का सर्वगुण सम्पन्न पुत्र-दान सबसे महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह सम्भव तभी है जब पति पूर्ण स्वस्थ हो।

(२) संस्कृति रूपिणी सरस्वती राष्ट्र के रत्नभूत पुरुषों का दान करती है। किन्तु इन रत्नभूत पुरुषों की उत्पत्ति तभी सम्भव है जब इस राष्ट्र के पुरुष स्वयं स्वस्थ, सदाचारी तथा व्रती हों।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि है—बार्हस्पत्यः भरद्वाजः।

बार्हस्पत्यः—बृहस्पति का वंशज, अर्थात् हृदय की उदारता में अपने पिता (बृहस्पति) से आगे बढ़ा हुवा। और समृद्धि को धारण करके उसे परार्थ में लगाने वाला भरद्वाज। यह नाम संकेत करता है कि—सरस्वती देवता की कृपा प्राप्त करने के लिए इन दोनों गुणों को अपने अन्दर धारण करना आवश्यक है।

(१२) इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमाविवासेम धीतिभिः ॥

—ऋक् ६-६१-२

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—जगती।

शब्दार्थ—(इयं) यह ज्ञान की देवी सरस्वती (गिरीणां सानु) अविद्या पर्वत की की जड़ता के उन्नत प्रदेशों को (तविषेभिः ऊर्मिभिः) बड़ी-बड़ी ज्ञान तरंगों से (अरुजत्) भंग कर देती है, जैसे (बिसखा) कमल तन्तुओं को खानेवाली हथिनी (शुष्मेभिः) बल-प्रहारों से पर्वतों के शिखरों को रौंद डालती है। इसलिए (पारावतघ्नीम्) पर्ववाली अविद्या की जड़ता को नष्ट करनेवाली (सरस्वतीम्) सरस्वती देवी की (अवसे) अपने रक्षण तथा वर्धन के निमित्त (सुवृक्तिभिः धीतिभिः) दोष निवारक ध्यानक्रियाओं द्वारा अथवा कर्ममय स्तुतियों द्वारा (आविवासेम) निरन्तर परिचर्या करते हैं।

निष्कर्ष—मनुष्य को स्तुति के अनुरूप कर्म भी करने चाहियें। जिसकी कथनी और करनी एक-सी होती हैं, उसकी स्तुति प्रार्थना पर ध्यान जरूर जाता है।

जिस प्रकार हथिनी बिस को अनायास ही खा लेती है, उसी प्रकार सरस्वती को अविद्या की जड़ता दूर करने में जरा भी प्रयास नहीं करना पड़ता। यदि कुण्डलिनी

जागरण के साथ ध्यानक्रियाएँ की जाएँगी तो अविद्याजन्य सारी जड़ता अनायास ही समाप्त हो जाएगी।

(१३) सरस्वति देवनिदो निबर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्य मायिनः।
उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषमेभ्यो अस्रवो वाजिनीवति ॥

—ऋक् ६-६१-३

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—जगती।

शब्दार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वति देवि (मायिनः) माया=छलकपट का आश्रय लेकर (बृसयस्य) ज्ञान तथा नैतिकता को फेंकने—तिरोहित करनेवाले (देवनिदः) दिव्य गुणों तथा कर्मों की निन्दा करनेवाले (विश्वस्य प्रजां) सबकी सन्तान तथा सृष्टि (धन-यश के विस्तार) को (निबर्हय) नितरां नष्ट कर दे। (वाजिनी वति) हे सब प्रकार की समृद्धियों को देने में समर्थ देवि (एभ्यः क्षितिभ्यः) इन दूसरे नीति-धर्म समर्थक व्यक्तियों के लिए समृद्धि रूप में (अवनीः अविन्दः) **भूमियाँ** प्राप्त करा तथा (विषं अस्रवः) जल प्रवाहित कर।

निष्कर्ष—जिसके पास जो पदार्थ होता है, वह उसी का दान करता है। सरस्वती देवी अनेकविध समृद्धियों की स्वामिनी है। इसलिए यह अवनीः=रक्षा और वृद्धि की साधनभूत पृथ्वी को अपनी समृद्धि के रूप में प्रदान करती है, किन्तु मायी, बृसय, देवनिन्दक के लिए यह पृथ्वी रक्षिका न होकर हिंसिका रूप धारण कर लेती है। जमीन को लेकर कितनी हिंसा और हत्याएँ होती रहती हैं। इसी प्रकार यह सरस्वती (विषं) अमृतमय जीवनप्रद जल प्रदान करती है, किन्तु मनुष्य के दुष्कृतों के कारण यह अमृतमय जल सुरा के रूप में विषरूप होकर हिंसा तथा मृत्यु का निमित्त बन जाता है।

कर्मों के अनुरूप फल मिलना है। इसलिये कभी-कभी समृद्धि का दान नाश का कारण और निर्धनता या अभाव अभ्युदय का निमित्त बन जाते हैं।

(१४) प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। धीनामवित्र्यवतु ॥

—ऋक् ६-६१-४

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(वाजिनीवती सरस्वती देवी) सब समृद्धियों की स्वामिनी सरस्वती देवी (वाजेभिः) यथा समय ज्ञान, बल, धन या अन्न प्रदान करके (नः) हमारे (धीनां) कर्मों तथा ज्ञानों की (अवित्री) शोधन वर्धन तथा रक्षण करनेवाली बनकर (अवतु) आवश्यकतानुसार शोधन वर्धन या रक्षण करती रहे।

विशेष—ऐसी कृपा सरस्वती देवता तभी करेगी, जब हम इस मन्त्र के उदारमना (बृहस्पति पुत्र बार्हस्पत्य) तथा दूसरों का भरण-पोषण करनेवाले (भरद्वाज) ऋषि के आचरण से प्रेरणा लेकर उनके सदृश बनने का प्रयत्न करते रहेंगे।

(१५) यस्त्वा देवि सरस्वत्युपब्रूते धने हिते। इन्द्रं न वृत्रतूर्ये ॥

—ऋक् ६-६१-५

शब्दार्थ—हे देवि सरस्वति (यः) जो व्यक्ति (धने हिते) हितकर धन सम्पत्ति के निमित्त (त्वा) तुझे (उपब्रूते) उसी प्रकार बुलाता या याद करता है (इन्द्रं न) जिस प्रकार परमेश्वर को (वृत्र तूर्ये) कामादि शत्रुओं के हिंसन के लिए याद किया जाता है।

(१६) **त्वं देवि सरस्वत्यवा वाजेषु वाजिनि। रदा पूषेव नः सनिम्॥**

—ऋक् ६-६१-६

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(वाजिनि) सब प्रकार की समृद्धियों की स्वामिनि (देवि सरस्वति) हे सरस्वति देवि (वाजेषु) जीवन में उपस्थित होनेवाले अनेक विध संग्रामों में (पूषा इव) सबके पोषक पूषा देवता के समान (नः) हमें आवश्यकतानुसार (सनिं) धन या बुद्धि का दान (रद) दे और (अव) हमारी रक्षा कर।

विशेष—यह कृपा तभी प्राप्त होगी जब हम बार्हस्पत्य के समान उदारमना तथा भरद्वाज के तुल्य समृद्धिदान द्वारा दूसरों का भरण-पोषण करने का प्रयत्न करेंगे।

(१७) **उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्॥**

—ऋक् ६-६१-७

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(हिरण्यवर्तनिः) स्वभावतः हितकर तथा रमणीय मार्ग का अवलम्बन करनेवाली (सरस्वती) सरस्वती देवता (वृत्रघ्नी) दुष्टों और पापों का नाश करते समय (घोरा) घोर रूप धारण कर लेती है। (उत) फिर भी (स्या) वह सरस्वती (नः) हमारी (सुष्टुतिम्) उत्तम तथा कर्मानुसारिणी हार्दिक स्तुति की (वष्टि) कामना करती है।

निष्कर्ष—क्योंकि वह जानती है कि हम इस मन्त्र के ऋषि को अपना मार्गदर्शक गुरु मानकर उसके तुल्य उदारमना तथा अभाव ग्रस्तों का भरणपोषण करनेवाले बनने का प्रयत्न कर रहे हैं।

(१८) **यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः। अमश्चरति रोरुवत्॥**

—ऋक् ६-६१-८

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(यस्याः) जिस सरस्वती देवी का (अमः) बल (अनन्तः) अनन्त (अह्रुतः) सरल (त्वेषः) दीप्त (चरिष्णुः) प्रगतिशील (अर्णवः) जल के तुल्य शीतल तथा शान्ति कर (रोरुवत्) समयानुकूल उपदेश करता हुआ (चरति) सदा विद्यमान रहता है।

(१९) **सा नो विश्वा अति द्विषःस्वसॄरन्या ऋतावरी। अतन्नहेव सूर्यः।**

—ऋक् ६-६१-९

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(सा) वेदवाणी, संस्कृति, गृहिणी, ज्ञानाधिष्ठात्री देवी या कुण्डलिनी शक्ति के रूप में निवास करनेवाली सरस्वती देवता (ऋतावरी) ऋत तथा सत्य नियमों से सम्पन्न होने के कारण (विश्वा द्विषः अति) सब द्वेष भावनाओं तथा शत्रुओं से पार

करा देती है। और (अन्या स्वसृः) अपनी बहिन सदृश अन्य दिव्य भावनाओं को (अतन्) आश्रय देकर उनका उसी तरह विस्तार करती है (इव) जैसे (सूर्यः) सूर्य (अहाः=अहानि) दिनों को अपनी दीप्ति तथा उष्णता के द्वारा विस्तृत कर देता है।

(२०) **उत नः प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्या भूत्॥**

—ऋक् ६-६१-१०

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(सप्त स्वसा) ७ छन्द जिसके भगिनी के समान सहायक तथा प्रिय हैं ऐसी वाणी या वेदवाणी—७ नदियाँ जिसकी सहायक हैं ऐसी सरस्वती नदी,—सात प्रकार के मनुष्यों की सहायता करनेवाली संस्कृति—तथा पिता और पति के सात कुलों की भगिनी तुल्य ख्याति करने वाली सद्गृहिणी, (सुजुष्टा) सम्यक् प्रकार से सेवन करने के बाद (नः प्रियासु प्रिया) हमारे प्रियजनों में सबसे अधिक प्रिय तथा (स्तोम्या) अधिकाधिक स्तुति योग्य (अभूत् होती जाती है।

(२१) **आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम्। सरस्वती निदस्पातु॥**

—ऋक् ६-६१-११

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(उरु रजः) अत्यन्त विशाल द्युलोक (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष लोक तथा (पार्थिवानि) पृथ्वीलोक सम्बन्धी नाना प्रदेशों अथवा इन तीनों का प्रतिनिधित्व करने वाले मस्तिष्क, हृदय तथा शरीर सम्बन्धी आवश्यकताओं को (आपप्रुषी) पूरण करनेवाली (सरस्वती) सरस्वती देवी (निदः पातु) निन्दा तथा घृणा से हम सबकी रक्षा करे।

विशेष—स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में निन्दा का अर्थ—'गुणेषु दोषारोपणं दोषेषु च गुणारोपणम्' गुणों को दोष तथा दोषों को गुण बताना—किया है। यह अर्थ सदा ध्यान रखने योग्य है। ग्रिफिथ ने निन्दा का अर्थ घृणा किया है।

(२२) **त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्चजाता वर्धयन्ती। वाजे वाजे हव्या भूत्॥**

—ऋक् ६-६१-१२

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(त्रिषधस्था) प्रत्येक त्रिक में सह स्थित होकर मार्गदर्शिका बननेवाली (सप्तधातुः) प्रत्येक सप्तक को धारण करनेवाली (पञ्च जाता) पुरुष आदि पांचों प्राणियों को (वर्धयन्ती) बढ़ानेवाली सरस्वती (वाजे वाजे) प्रत्येक व्यवहार, संघर्ष या संग्राम में (हव्या भूत्) सहायिका रूप में बुलाने योग्य होती है।

विशेष—त्रिक—(क) शरीर+मनस्+आत्मा, (ख) मन+बुद्धि+चित्त, (ग) द्यु+अन्तरिक्ष+भूमि, (घ) भूत, वर्तमान, भविष्य।

पञ्चक—(क) पाँच कोश, (ख) पाँच भूत, (ग) पाँच कर्मेन्द्रियाँ, (घ) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (ङ) पाँच विषय।

सप्तक—सात छन्द=सात लोक—सात नदियाँ—सात कुल—सात पीढ़ियाँ मनुष्य—ब्रह्मचारी, गृहस्थ (ब्राह्मण+क्षत्रिय+वैश्य+शूद्र) वानप्रस्थी, संन्यासी।

(२३) प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा ।
रथ इव विभ्वने बृहती कृतोपस्तुत्या चिकितुषा सरस्वती ।।

—ऋक् ६-६१-१३

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । छन्दः—जगती ।

शब्दार्थ—(या) जो देवी (अपसामपस्तमा) कर्म करनेवाली शक्तियों में सबसे सशक्त कर्मकर्त्री (द्युम्नेभिः) अपने प्रतिदिन के द्युतियुक्त व्यवहारों के द्वारा और (महिम्ना) अपनी महिमा के कारण (महिनासु) महिमामय वस्तुओं में (प्रचेकिते) विशेष रूप से जानी जाती है ।

(विभ्वने) विशिष्ट स्थिति को प्राप्त करने के निमित्त (चिकितुषा) ज्ञानी मनुष्य द्वारा (रथ इव) रथ के समान (बृहती) अत्यन्त सहायिका तथा भार-वहन में समर्थ (सरस्वती) यह सरस्वती (उपस्तुत्या) अत्यन्त स्तुतियोग्य (कृता) मानी गई है । अथवा (स्तुत्या) स्तुति द्वारा (उप) समीप (कृता) की जाती है ।

निष्कर्ष—वेदवाणी—यथार्थ ज्ञानी तथा विशाल हृदय मनुष्य द्वारा स्तुति किये जाने पर मस्तिष्क में उपस्थित होकर सहायक बनती है ।

सरस्वती सदा शुभ्रवसना है, इसलिए सुन्दर तथा महिमामण्डित होने पर भी वासना को नहीं जगाती ।

(२४) सरस्वत्यभि नो नेषि वस्यो मापस्फरीः पयसा मा न आधक् ।
जुषस्व नः सख्या वेश्या च मा त्वत्क्षेत्राण्यरणानि गन्म ।।

—ऋक् ६-६१-१४

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । छन्दः—त्रिष्टुप् ।

शब्दार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वति देवि (नः) हमें (अभि) चारों ओर से (वस्यः नेषि) वर्तमान की अपेक्षा बेहतर (बृहत्तर) बना । (मा अप स्फरीः) कभी अब से न्यून न कर । (पयसा) अपने रस से सिंचित करके (नः) हमें (मा आधक्) कभी सूखने या जलने न दे । (नः) हमें सदा (सख्या) मित्र भाव से (च) और (वेश्या) पड़ौसी भाव से (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कर । (त्वत्क्षेत्राणि) तेरे नाना क्षेत्र हमारे लिए (अरणानि) अरमणीय या अनजान (मा गन्म) कभी न होने पावे ।

निष्कर्ष—सरस्वती देवी का कोई क्षेत्र हमारे लिए अपरिचित न रहे । हमें सरस्वती का रस यथासमय प्राप्त होता रहे और बढ़ता रहे । हम उसके रस से कभी वञ्चित न हों, और हमारी कभी अवनति न हो ।

विशेष—हमारी ऊपर उक्त प्रार्थना तभी सफल होगी, जब हम इस मन्त्र के ऋषि बृहस्पति-पुत्र के समान उदार हृदय तथा दूसरों का भरण-पोषण करनेवाले भरद्वाज के समान समृद्धिशाली बनेंगे । मन्त्र का ऋषि अपने नाम द्वारा हमें तत्सदृश आचरण बनाने की प्रेरणा करता है ।

(२५) प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः ।
प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः ।।

—ऋक् ७-९५-१

ऋषि—मैत्रावरुणिः वसिष्ठः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(एषा सरस्वती) यह सरस्वती देवी (धायसा क्षोदसा) धारण करने वाले जल तुल्य प्रवाह रूप ज्ञान द्वारा (आयसी पूः) लोहनिर्मित नगरी के समान रक्षिका अथवा प्रगतिशील पूरण क्रिया द्वारा (धरुणं प्रसस्रे) सर्वत्र धारण पोषण का प्रसार करती रहती है और (रथ्येव) रथ में बैठी हुई देवी के समान (सिन्धुः) प्रगति-दायिनी बनकर (अन्या विश्वा अपः) दूसरी अर्थात् प्रगतिविरोधिनी सब क्रियाओं=गतिविधियों को (महिना) अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के कारण (प्रबाबधाना) खूब अच्छी तरह बाधित करती हुई (प्रयाति) स्वयं निर्बाध गति से चलती चली जाती है।

विशेष—(क) मित्रावरुण को ताण्डय ब्राह्मण ने प्राणापान माना है। इन दोनों की साधना करने वाला प्राणाभ्यासी योगी मैत्रावरुणिः है।

(ख) ऐतरेय ब्राह्मण ने चक्षु और मन को मित्रावरुण माना है। इसलिए चक्षु और मन को वश में रखने वालों में श्रेष्ठ मैत्रावरुणि है।

(ग) सबके प्रति मित्रता की भावना रखते हुए; नियमों का पालन करने वाला मित्रावरुण कहाता है। मित्रावरुण की सन्तान अर्थात् पिता के गुण में विशिष्टता प्राप्त करने वाला मैत्रावरुणिः है।

(घ) उत्तम प्रकार निवास करने वाला तथा दूसरों के लिए निवास की व्यवस्था करने वालों में श्रेष्ठ वसिष्ठ बनता है।

ऋषिवाची शब्द उभयमुख होते हैं। १. जब तक ऋषिवाची शब्द की भावना के अनुकूल आचरण न बनाएँ—मन्त्र का रहस्य आत्मसात् नहीं किया जा सकता; और २. जब तक मन्त्र में व्यक्त व्यवहार या उपदेश को जीवन में पूरी तरह से आत्मसात् नहीं किया जाता, तब तक मन्त्र के ऋषि का पूर्ण मार्गदर्शन नहीं प्राप्त होता; और इसके अभाव में ऋषि—सदृश नहीं बना जा सकता।

जैसे—न तैरने वाले के लिए अज्ञात जल में प्रवेश निषिद्ध है। और जल में प्रविष्ट हुए बिना तैरना नहीं आ सकता। किन्तु तैरना जानने वाले के मार्गदर्शन में जल में प्रविष्ट होकर तैरना सीखा जा सकता है। इसी प्रकार ऋषि या मार्गदर्शक गुरु के संरक्षण में रहकर मन्त्र के रहस्य को समझकर मन्त्रार्थ द्रष्टा ऋषि बना जा सकता है।

(२६) **एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।**
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय॥

—ऋक् २-९५-२

ऋषि—मैत्रावरुणिः वसिष्ठः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(नदीनां सरस्वती एका) जिस प्रकार नदियों में एक सरस्वती नदी (गिरिभ्य आ समुद्रात्) पर्वत से निकलकर समुद्र में गिरने तक (यती शुचिः अचेतत्) गति करती हुई पवित्र समझी जाती है; उसी प्रकार सब वाणियों में से एक वेदवाणी ही गिरितुल्य अपने उद्गम स्रोत परमात्मा से प्रकट होकर मनुष्यों के हृदय में पहुँचने तक प्रगति करती हुई, शुद्ध पवित्र बनी रहकर मानव समाज को नई-नई चेतना प्रदान करती रहती है।

ऐसे ही सरस्वती, गौ के समान (नाहुषाय) सेवा करने वाले मनुष्य के लिए (पयः घृतं दुदुहे) दूध और धृत की तरह दुग्धवत् शुभ्र तथा धृत के समान स्निग्ध दीप्तिकर ज्ञान प्रदान करती है और (भूरेः भुवनस्य) सुवर्णमय तथा विविधतामय लोक की (रायः चेतन्ती) समृद्धि रूपी चेतनाओं को चेताती हुई, सब प्रकार का दोहन प्रदान करती है।

विशेष—सरस्वती (सुषुम्णा नाड़ी) में प्रबाहित कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर चैतन्य रूप दुग्ध धृत का दोहन प्राप्त कराती है।

(२७) उत स्या नः सरस्वती जुषाणा उपश्रवत् सुभगा यज्ञे अस्मिन्।
मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना राया युजा चिदुत्तरा सखिभ्यः॥

—ऋक ७-९५-४

ऋषिः—मैत्रावरुणिः वसिष्ठः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(सुभगा) उत्तम भगों से सुशोभित (स्या सरस्वती) वह सरस्वती देवी (अस्मिन् यज्ञे) जीवन यज्ञ के प्रत्येक कर्म में (जुषाणा) सेवा द्वारा प्रसन्न होकर हमसे प्रीति करती हुई (मितज्ञुभिः) घुटने टेककर (नमस्येभिः) दिव्य भावनाओं के कारण नमस्करणीय गुरुओं-उपदेशकों के द्वारा (इयाना) प्राप्त होती हुई और (युजा रायाचित्) योग और समृद्धि से युक्त होने के कारण (उत्तरा) उत्कृष्ट रूप वाली, (सखिभ्यः) सखा=समान ख्याति बनने का प्रयत्न करने वाले उपासकों के (उप) समीप पहुँचकर (श्रवत्) उनकी प्रार्थना को सुने।

विशेष—वेदवाणी का प्रीतिपूर्वक सेवन ६ भग प्रदान करने वाला है। योग के साथ मिलकर वेदज्ञान उत्तर (उत्कृष्टत्तर) रूप धारण कर लेता है। वेदवाणी का समर्पण युक्त स्तवन समस्त दिव्यताएँ प्रदान करता है। और योग से संयुक्त होने पर आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार कराता है।

(२८) इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभिः प्रतिस्तोमं सरस्वति जुषस्व।
तव शर्मन् प्रियतमे दधाना उपस्थेयाम शरणं न वृक्षम्॥

—ऋक् ७-९५-५

ऋषिः—मैत्रावरुणिः वसिष्ठः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वति देवि! हम (नमोभिः) विनम्र वचनों द्वारा (इमा जुह्वानाः) दिव्यताओं को ग्रहण करते हुए और कुटिलताओं को त्यागते हुए (युष्मद प्रति) आपके प्रति (स्तोमं दधानाः) स्तुति के अनुकूल आचरण धारण करते हुए अतः इन स्तुतियों (जुषस्व) को स्वीकार कर और प्रसन्न हो। (तव प्रियतमे शर्मन्) आपके अत्यन्त प्रिय तथा शान्ति कर संरक्षण में (वृक्षं न शरणं) धूप से व्याकुल होकर वृक्ष की छाया में पहुँचने के समान (उप) तेरे समीप पहुँचकर (स्थेयाम) तेरी शरण में स्थित हो सके।

(२९) अयमुते सरस्वति वसिष्ठो द्वारा वृतस्य सुभगे व्यावः।
वर्ध शुभ्रे स्तुवते रासि वाजान्, यूयंपात स्वस्तिभिः सदा नः॥

—ऋक् ७-९५-६

ऋषिः—मैत्रावरुणिः वसिष्ठः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वति देवि! (अयम्) यह सबके प्रति मित्रता की भावना रखने वाला तथा नियमों का पालक (वसिष्ठः) अपनी भावनाओं तथा इन्द्रियों को वश में करने वाला आपका उपासक (ते) तुझे प्राप्त करने के साधन रूप (ऋतस्य द्वारौ) नियम पालन रूप द्वारों को (व्यावः) खोल देता है—प्राप्त कर लेता है। हे (शुभ्रे) शुभ-दायिनि देवि! (वर्ध) तू सदा अपनी कीर्ति द्वारा बढ़ती रह और (स्तुवते) स्तुति के अनुकूल आचरण वाले उपासक को (वाजान्) सब प्रकार की भगरूपी समृद्धियों को (रासि) सदा से देती आई है, और भविष्य में भी देती रहेगी, इसलिए अब भी देती रह। (यूयं) वेदों में वर्णित सब देवताओं अर्थात् दिव्यगुण तथा कर्म के अधिष्ठातृदेवो! (सदा) सर्वदा (नः) हमारी (स्वस्तिभिः) कल्याणकारिणी क्रियाओं द्वारा (पात) रक्षा करते रहो।

निष्कर्ष—मैत्रावरुणिः तथा वसिष्ठ बने बिना ऋत के द्वारों के समीप नहीं पहुँचा जा सकता। मैत्रावरुणि और वसिष्ठ बनना ही सच्चा स्तोता अर्थात् स्तुति के अनुकूल आचरण वाला बनना है। सच्चे स्तोता को सरस्वती तथा अन्य सब देव सब प्रकार की समृद्धियाँ प्रदान करते हैं।

(३०) **बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम्।**
सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ रोदसी॥

—ऋक् ७-९६-१

ऋषिः—प्रगाथः। छन्दः—वृहती।

शब्दार्थ—(वसिष्ठ) हे जितेन्द्रिय, प्राण साधक (नदीनामसुर्या) वाणियों में प्राण संचार करने के लिए (वृहद् वचः गायिषे) उदार वचनों का व्यवहार कर—आदर्श प्रसारक वचनों का गान कर। और (रोदसी) द्युलोक और पृथ्वी लोक में व्याप्त (सरस्वतीं) सरस्वती को (सुवृक्तिभिः स्तोमैः) दोष रहित वचनों द्वारा, स्तोत्रों द्वारा (महय) महत्त्वपूर्ण तथा गौरवयुक्त बना।

विशेष—दोष रहित वचन या स्तोत्र वे हैं—जिनके प्रयोक्ता की कथनी करनी में अन्तर नहीं होता। अपने आचरण को सुधारने के बाद ही दूसरों को उपदेश देता है। वाणी को गरिमापूर्ण बनाने का अर्थ भी यही है कि जो कहा जाए, उसे किया जाए। प्राण जाए पर वचन न जाए।

वाणियों में प्राण संचार करने का उपाय भी यही है कि पहले उपदेश को अपने आचरण में लाओ और तदनन्तर किसी दूसरे को उसका उपदेश करो।

(३१) **उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधि क्षियन्ति पूरवः।**
सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोदराधो मघोनाम्॥

—ऋक् ७-९६-२

ऋषिः—प्रगाथः। छन्दः—सतोवृहती।

शब्दार्थ—हे सरस्वति देवि (ते) तेरे (उभे) दोनों (अन्धसी) अन्न (शुभ्रे) कल्याण देने वाले हैं (महिना यत्) जिनकी महिमा के कारण (पूरवः) मनुष्य (अधि

क्षियन्ति) इस लोक में अपनी स्थिति कायम रख पाते हैं। (सा) वह (मरुत्सखा) प्राणों के समान मित्र भाव से रहती हुई (अवित्री) रक्षिका तथा वर्धिका (बोध) होवे और (मघोनां) ऐश्वर्यशालियों के योग्य (राधः) धन को (चोद) हमारी ओर प्रेरित करे।

विशेष—सरस्वती के दो प्रकार के अन्न होते हैं। शारीरिक पुष्टि के लिए अन्न तथा माससिक पुष्टि के लिए ध्यान। इसलिए वही शिक्षा तथा विद्या सफल मानी जाती है, जिसके सहाय से जीविका अर्जन किया जा सके, और मन को शान्ति प्राप्त हो सके।

ध्यान की सिद्धि के लिए प्राण की साधना आवश्यक है। इसलिए सरस्वती को मरुत्सखा कहा है। मरुत की सहायता से ही मेघ बरसते हैं, और वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है।

सरस्वती का राधः=धन शुभ्र=शुभ+र (रादाने) कल्याण देनेवाला है। उभे अन्धसी=अन्न+ध्यान। राधः=धन+ध्यान।

(३२) भद्रमिद् भद्रा कृणवत् सरस्वत्यकवारी चेतति वाजिनीवती।
गृणाना जमदग्नि वत् स्तुवाना च वसिष्ठवत्॥

—ऋक् ७-९६-३

ऋषिः—मैत्रावरुणिः वसिष्ठः। छन्दः—प्रस्तार पङ्क्तिः।

शब्दार्थ—(जमदग्निवत्) यज्ञशील, अथवा प्रबुद्ध जाठराग्नि वाले अथवा आँखें खोलकर चलने वाले व्यक्ति के समान (गृणाना) स्तुति की जाती हुई और (वसिष्ठवत्) प्राणसाधक जितेन्द्रिय अथवा सबको बसाने की इच्छा वाले अथवा प्राणवान् व्यक्ति के समान (स्तुवाना) प्रशंसा की जाती हुई (अकवारी) सदा शुभ आचरण को स्वीकार करने वाली (वाजिनी वती) सब प्रकार की समृद्धियों से सम्पन्न (भद्रा) कल्याणकारिणी (सरस्वती) विदुषी स्त्री, समयानुकूल वाणी, संस्कृति, अकाल के समय नदी तथा रुग्णावस्था में गौ (चेतति) प्रकट (प्राप्त) होती है और (भद्रमित्) केवल मात्र कल्याण (कृणवत्) करती है।

विशेष—यदि हम अपना आचरण जमदग्नि और वसिष्ठ के समान बनाएँगे तो सरस्वती अवश्यमेव कल्याण करेगी।

(३३) सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥

—ऋक् १०-१७-७

ऋषिः—देवश्रवाः यामायनः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(अध्वरे तायमाने) हिंसा रहित यज्ञीय कर्मों के विस्तार के समय (सुकृतः) अच्छी प्रकार उत्तम कर्म करने वाले व्यक्ति (सरस्वतीं अह्वयन्त) विदुषी स्त्री को अपनी सहायता के लिए बुलाया करते थे, और वह (सरस्वती) (दाशुषे) भरण-पोषण करने वाले व्यक्ति को (वार्यं) वरणीय तथा आवश्यक पदार्थ सन्तान-भोजन-वस्त्र इत्यादि (दात्) दिया करती थी। उसी प्रकार आज भी (देवयन्तः) दिव्य भावनाओं तथा कर्मों की कामना वाले व्यक्ति (सरस्वतीं) विदुषी स्त्री को (हवन्ते) बुलाते हैं।

निष्कर्ष—स्त्री की सहायता के बिना न पहिले युग में हिंसारहित गृहस्थ यज्ञ पूरा होता था, और न वर्तमान युग में पूरा हो सकता है।

विशेष—अपने से विद्वान् की बात को ध्यान से सुनना चाहिए—देवश्रवा बनना चाहिए। और अपने जीवन को यम नियमों से युक्त अयन=गतिवाला बनाकर यामायन बनना चाहिए। तभी संस्कृति वाणी या पत्नी रूपी सरस्वती हमें वरणीय पदार्थ प्रदान करती है।

(३४) सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवी पितृभिर्मदन्ती।
आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आधेह्यस्मे॥

—ऋक् १०-१७-८

ऋषिः—देवश्रवाः यामायनः। छ:दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—हे (सरस्वति) देवि! (या) जो तू (पितृभिः) हमारे पूर्वजों के साथ (मदन्ती) प्रसन्न रहती हुई (स्वधाभिः) अपनी धारण करने वाली शक्तियों के साथ साथ (सरथं) गृहस्थ रूपी रथ पर सवार होकर जैसे पहले (ययाथ) साथ-साथ यात्रा करती थी। उसी प्रकार हे देवि (अस्मिन् बर्हिषि आसद्य) इस वर्तमान यज्ञ में भी सम्मिलित होकर (मादयस्व) मेरे साथ सब तरह से सन्तुष्ट होकर रह और (अस्मे) हम घर में रहने वाले सदस्यों के लिए (अनमीवा इषः) रोग न उत्पन्न करने वाले अन्न तथा पान का प्रबन्ध कर, और दोष रहित इच्छाओं को (आधेहि) धारण कर।

(३५) सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
सहस्रार्घमिलो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि॥

—ऋक् १०-१७-९

ऋषिः—देवश्रवाः यामायनः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(पितरः) हमारे पूर्वज या वृद्धजन (यां सरस्वतीं) जिस सरस्वती को (दक्षिणा) दक्षिणा के साथ अथवा कर्मों को कुशलता पूर्वक करने के सामर्थ्य वाले बनकर (यज्ञमभि नक्षमाणाः) यज्ञ की ओर प्रवृत्त होते हुए (हवन्ते) बुलाते हैं—याद करते हैं। हे सरस्वति देवि वह तू (यजमानेषु) हम यजमानों में (सहस्रार्घम्) बहुमूल्य अथवा कुशल क्षेम द्वारा प्राप्त आनन्द से युक्त (इलः भागं) अन्न के भाग को और (रायः पोषं) धन की पुष्टि को (धेहि) धारण कर।

निष्कर्ष—हमें अन्न उतनी ही मात्रा में सेवन करना चाहिए, जिससे हँसते हुए स्वस्थ रह सकें। अन्न के अति मात्रा में सेवन से रोग तथा रुदन प्रारम्भ हो जाता है।

हमें उतना ही धन प्रदान कर जिससे हम पुष्ट बने रह सकें। अधिक धन मिलने से ऐश तथा आलस्य की ओर प्रवृत्ति हो जाती है, और अभिमान घेर लेता है। परिणामतः रोग, निष्क्रियता और भीरुता आ जाती है।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि देवश्रवाः उपदेश करता है कि अपने से बड़े विद्वानों का संग करो, उनसे सुने हुए पर अमल करो। यामायन कहता है कि जीवन संयम मय बनाओ, और यम नियमों में रहते हुए जीवन बिताओ तो सरस्वती तुम्हारी प्रार्थना को सार्थक करेगी।

यजुर्वेद में सरस्वती

यजुर्वेद में सरस्वती देवता के मन्त्र बहुत कम हैं। ब्रह्मर्षि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित दैवत संहिता के अनुसार यजुर्वेद में केवल दो मन्त्र पूर्ण रूप से सरस्वती देवता के हैं। कुछ मन्त्रों में सहचारी देवता के रूप में सरस्वती की चर्चा है।

(३६) **सरस्वत्यै यशो भगिन्यै स्वाहा।** —यजु: २-२० का अंश

ऋषिः—परिमेष्ठी प्रजापतिः।

शब्दार्थ—(यशोभगिन्यै) यश और ऐश्वर्य को प्रदान करने वाली अथवा कीर्ति की भगिनी (बहिन) सदृश (अरस्वत्यै) सरस्वती देवी—(संस्कृति, मातृत्वकामा विदुषी स्त्री, वेदवाणी, वाणी, गौ या नदी में से प्रकरणानुसार) के लिए (स्वाहा) स्वाहा हो अर्थात् तदनुमोदित उपदेश को स्वीकार करके उस पर आचरण करने के लिए, संकल्प-पूर्वक बोलकर आहुति देते हैं।

निष्कर्ष—सरस्वती कीर्ति की बहिन है। इन दोनों में बहिनों के सदृश प्रेम तथा साहचर्य है। सरस्वती को अपनाने वाले को कीर्ति सहज ही मिल जाती है।

इस मन्त्र का ऋषि प्रजापति है। प्रजापति के दो रूप हैं—मनुष्य तथा देव। मनुष्य सरस्वती के किसी भी रूप की साधना करके प्रजापति (उत्पादक) बन सकता है। यदि वह सरस्वती की कृपा से दिव्यता उत्पन्न कर ले तो वह परम अवस्था को प्राप्त (देव) प्रजापति=परमेष्ठी प्रजापति बन जाता है।

सरस्वती की साधना के फलस्वरूप बिना चाहे यश और ऐश्वर्य मिलता है।

(३७) **सरस्वत्या वाचा देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि।** यजु: १०-३० का अंश

ऋषिः—शुनःशेप।

शब्दार्थ—(देवतया) दिव्य गुण तथा कर्म से युक्त (वाचा) वाणी द्वारा और (सरस्वत्या) वेदवाणी अथवा संस्कृति की देवता द्वारा (प्रसूतः) प्रेरित होकर (प्रसर्पामि) जीवनपर्यन्त, कर्तव्य कर्मों को सम्पन्न करने के लिए प्रवृत्त रहता हूँ।

निष्कर्ष—स्वयं सुख, अन्न या धन प्राप्त करना चाहते हो, अथवा दूसरों को देना चाहते हो तो वेदवाणी द्वारा प्राप्त उपदेशों को आचरण में लाओ।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि शुनःशेप संकेत करता है कि यदि तुम इस दुनिया में सुख चाहते हो तो दूसरों के लिए सुख स्वरूप बनकर उन्हें सुख पहुँचाने के प्रयत्न में लगे रहो।

(३८) **अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम्।**
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान॥

—यजु १९-९०

ऋषिः—शंखः। छन्दः—भुरिक् पङ्क्तिः।

शब्दार्थ—(सरस्वती) सुषुम्ना में गति करने वाली कुण्डलिनी शक्ति (नस्यानि) नासिका में रहने वाले प्राणों को (बदरैः उपवाकैः) स्थिर तथा नियत तिर्यक् (तिरछी) गतियों द्वारा (बर्हिः) हृदयान्तरिक्ष में पहुँचाने के बाद उसे (व्यानं) सारे शरीर में व्याप्त

होकर चलने वाला व्यान (जजान) बना देती है। इसलिए हे प्राणनियामिके सरस्वति देवि ! (वीर्याय) वीर्यशाली बनाने के लिए (मा) मुझे (अविः न) वायु के समान (नसि) नासिका में (इषः) प्राप्त होती रह; क्योंकि (प्राणस्य पन्थाः) प्राणायाम का पथ (अहाभ्याम्) अन्तः—बहिः अथवाकुम्भक रेचक रूप दो प्रकार के ग्रहणों द्वारा (अमृतः) अमृत रूप है अर्थात् स्वास्थ्य, दीर्घ जीवन और सुख तथा शान्ति देने वाला है।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि शंख (शं + ख) इन्द्रियों की शान्ति चाहने वाला है। उस शान्ति को प्राप्त करने के लिए आकाश में विचरने वाली वायु का सहारा लेता है—प्राणायाम साधना करता है। और संकेत करता है कि यदि इन्द्रियों को शान्त रखना चाहते हो तो प्राणायाम करते रहो।

निष्कर्ष—१. प्राण की साधना के बिना इन्द्रियाँ शान्त नहीं रह सकतीं। प्राणायाम साधना में प्राणों को अन्दर लेने और बाहर ले जाने द्वारा (कुँभक, रेचक रूप) दो प्रकार से ग्रहण करने होते हैं। इन दो ग्रहणों के द्वारा ही वे स्वास्थ्य, सुख और शान्ति प्रदान करते हैं।

२. प्राण की गति तिर्यक् मानी गई है। ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार, ननु तिर्यङ् निपद्यते। अथर्व ११-४-६५।

३. जब तक प्राण को व्यान का रूप न प्राप्त हो जाए तब तक सर्वांगीण उन्नति नहीं हो सकती।

४. अवि की तरह प्राप्त हो, इसमें अवि से उपमा दी है। अवि के भेड़, सूर्य, स्त्री आदि अन्य अर्थ भी हैं। इसलिए इसके ये अर्थ होंगे। मुझे सहगामिनी स्त्री की तरह आवश्यकता के समय सदा सुलभ रह। सूर्य के समान प्रतिदिन मुझे नवजीवन दे। और फिर भेड़ की तरह—एक के पीछे एक बिना सोचे चल देती है वैसे ही मेरे इस क्षण के प्राण के बाद का प्रत्येक प्राण इसी पथ पर चलता चला जाए।

(३९) **सरस्वत्यै स्वाहा, सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा, सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा।**

—यजुः २२-२०का अंश।

ऋषिः—प्रजापतिः।

शब्दार्थ—(सरस्वत्यै) वाणी रूप धारिणी, मातृ रूप धारिणी, संस्कृति रूप धारिणी, गौ रूप धारिणी तथा नदीरूप धारिणी सरस्वती देवी के लिए (स्वाहा) उत्तम वाणी का प्रयोग करते हैं और आवश्वकता पड़ने पर इनके लिए अपने स्वार्थ का त्याग करते हैं।

(पावकायै) सरस्वती के सब रूप पवित्रता करने वाले हैं, इसलिए पवित्रता रूपिणी सरस्वती का हम (स्वाहा) अच्छी प्रकार आह्वान करते हैं। वह हमारी प्रार्थना को स्वीकार करके आए और हमें पवित्रता प्रदान करे।

(बृहत्यै सरस्वत्यै) बृहत्ता—बड़प्पन प्रदान करने बाली सरस्वती को हम (स्वाहा) संकल्प पूर्वक बुलाते हैं; वह हमारे संकल्प को पूर्ण करने के लिए अपनी बृहत्ता प्रदान करे।

निष्कर्ष—सरस्वती के सब रूप पवित्रता और बृहत्ता प्रदान करने वाले हैं। सरस्वती का जो सच्चे हृदय से आह्वान करेगा, और उसे प्रसन्न करने के लिए स्वार्थ त्याग करने को उद्यत रहेगा; सरस्वती देवी उसके अभिवाञ्छित अर्थ को अवश्य प्रदान करेगी।

पावमानी वरदा वेदमाता भी सरस्वती है। उसने हमें आयुः, प्राण, प्रजा, पशु कीर्ति, द्रविण तथा ब्रह्म वर्चस प्राप्त कराने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए यदि हम अपनी पात्रता बनाए रखेंगे तो ये वस्तुएँ आवश्यकतानुसार प्राप्त होती रहेगीं। अथर्व० १९-७१

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि प्रजापति है। प्रजापति—सन्तान की उत्पति करके उनका पालन-पोषण करता है, और इसीलिए उनका स्वामी बना रहता है। इसी प्रकार जो उत्पादन करेगा और उत्पन्न भूत वर्ग का पालन-पोषण करेगा वह प्रजापति बनेगा। उसे सरस्वती देवी सदा पवित्रता और बृहत्ता प्रदान करती रहेगी।

(४०) **फल्गूर्लोहितोर्णी पलक्षी ताः सारस्वत्यः।** —यजु: २४-४ का अंश

ऋषिः—प्रजापतिः।

शब्दार्थ—(फल्गूः) फलों को प्राप्त करने वाले (लोहितोर्णी) लाल बालों वाले (पलक्षी) चंचल आँखों वाले—(ताः) मादा पशु-पक्षी (सारस्वत्यः) सरस्वती से सम्बन्ध रखते हैं।

विशेष—इस मन्त्र से संकेत मिलता है कि—(फल्गूः) फल को प्राप्त कराने वाली अर्थात् सफलता प्राप्ति की सब क्रियाएँ वाणियाँ तथा वृत्तियाँ और (लोहितोर्णी) लाल वर्ण वाली अर्थात् रजोगुणमिश्रित क्रियाएँ वाणियाँ तथा वृत्तियाँ तथा (पलक्षी) प्रगति तथा रक्षा प्रदान करने वाली क्रियाएँ वाणियां तथा वृत्तियाँ (सारस्वत्यः) सरस्वती से सम्बन्ध रखती हैं।

(४१) **पंचनद्यः सरस्वतीमपियन्ति सस्रोतसः।**
सरस्वती तु पंचधा सो देशेऽभवत्सरित्॥ —यजु: ३४-११

ऋषिः—प्रजापतिः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्।

शब्दार्थ—(पंचनद्यः) पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले पाँच प्रकार के ज्ञान सतत प्रवाह रूप में चलते रहने से नदी के समान हैं, और (सस्रोतसः) एक ही माध्यम मन के द्वारा (सरस्वतीं) स्पाइनलकॉर्ड=मेरुदण्ड स्थित सुषुम्ना नाड़ी में (अपियन्ति) प्रच्छन्न रूप से प्राप्त होते हैं। तदनन्तर (सा सरस्वती सरित्) सतत प्रवाहमयी ज्ञान-वाहिनी नदी रूपिणी वह सुषुम्ना सरस्वती (देशे) मस्तिष्क प्रदेश में पहुँचकर (पंचधाः) पुनः पाँच प्रकार से (अभवत्) रूप धारण करके अनुभव होती है।

अथर्ववेद् में सरस्वती देवता के मन्त्र

(४२) **सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे ।**
वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥ —अथर्व ५-७-४

(४३) **यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा ।**
श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा ॥ —अथर्व ५-७-५

ऋषिः—अथर्वा । देवता—सरस्वती । छन्दः—अनुष्टुप् ।

शब्दार्थ—(देवानाम्) सन्तों, विद्वानों और वैज्ञानिकों की (देवहूतिषु) विद्वत् गोष्ठियों में (जुष्टां) सभ्यों द्वारा सेवनीय और प्रीतिपूर्ण (मधुमतीम्) मधुरतायुक्त (वाचं) वाणी का (अवादिषम्) प्रयोग करता हूँ। इस प्रकार हम सभी सभ्य (भगं यन्तः) ऐश्वर्य युक्त भाग धेय को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए (अनुमतिम्) परमेश्वर या गुरु की मति के अनुकूल मति बनाने वाली (सरस्वतीं) वेदमाता को (हवामहे) पुकारते हैं—प्रयोग करते हैं तथा तदनुकूल आचरण करते हैं।

उपरोक्त साधना के द्वारा स्थिर तथा शान्त चित्त होकर (अहं) मैं—याचक (मनोयुजा) पूर्ण मनोयोग युक्त (सरस्वत्या) अपनी संस्कृति या वेदवाणी द्वारा अनुमोदित (वाचा) वाणी से (यं याचामि) जिस देव से जो कुछ माँगता हूँ; (बभ्रुणा) भरण-पोषण में समर्थ (सोमेन) वीर्यप्रद सोम द्वारा (दत्ता) प्रतिपादित (श्रद्धा) मेरी श्रद्धा—सत्य में प्रीति तथा दृढ़ धारणा (तम्) उस देव को प्राप्त होकर, उससे मुझे अभिवाञ्छित दिव्य गुण-कर्म-पदार्थ (विन्दतु) प्राप्त करावे।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि अथर्वा=संशय रहित स्थिर गतिवाला है, और वह संकेत करता है कि यदि किसी भी पदार्थ को प्राप्त करना हो तो उसे संशय रहित पूर्ण श्रद्धा के साथ प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

निष्कर्ष—हम किसी भी समाज या गोष्ठी में सम्मिलित हों, मधुर तथा प्रीति पूर्ण वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

यदि हमारा व्यवहार सभ्यतापूर्ण तथा हमारी आकांक्षा श्रद्धा से समन्वित होगी तो अवश्य सफल होगी।

(४४) **अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरि धायसे ।**
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ —अथर्व ६-४१-२

ऋषिः— ब्रह्मा । छन्दः—अनुष्टुप् ।

शब्दार्थ—(अपानाय) रोगों, दोषों, दुरितों को बाहर निकालने वाले (प्राणाय) जीवन, स्वास्थ्य तथा सुवितों को अन्दर लाने वाले (व्यानाय) सारे शरीर में व्याप्त हो कर जीवनी शक्ति को कायम रखने वाले, इस प्रकार (भूरि धायसे) नाना प्रकार से जीवन धारण करने वाले तथा (उरुव्यचे) बहुत प्रकार की शक्तियों का विकास करने वाले प्राण के लिए (वयम्) हम सब (सरस्वत्या) ज्ञान की अधिठात्री देवी द्वारा अनुमोदित (हविषा) भोग सामग्री द्वारा (विधेम) परिचर्या करते हैं।

निष्कर्ष—ज्ञान पूर्वक भोग करने से प्राण की परिचर्या होती है, हानि नहीं होती। प्राण, अपान और व्यान को संयत करके मनुष्य ज्ञानी, योगी तथा मनीषी बन सकता है।

भोग भोग्य है, त्याज्य नहीं। किन्तु उन्हें सीमा में—सरस्वती की अनुमति से ही भोगना चाहिए। तभी वे भग (ऐश्वर्य) प्रदान करते हैं। जीवन यज्ञ को सुखपूर्वक बिताने के लिए ब्रह्मा का पथ प्रदर्शन आवश्यक है। १०० यज्ञों को सुचारु रूप से चलाने वाला ब्रह्मा=परमात्मा है। उसका सब से सौम्य, स्नेहमय तथा धी-प्रेरक रूप सरस्वती का है। सरस्वती मातृ रूपा है। इसलिए वह न कभी अकल्याण चाहती और न करती है। शरीर रूपी यज्ञ के ब्रह्मा (मन) पर सरस्वती देवी की कृपा हो तभी श्रद्धा उत्पन्न होती है और आवश्यक भोगों को प्राप्त कराती है।

(४५) **सं वो मनाँसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।**
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः संनमयामसि॥ —अथर्व ६-९४-१

(४६) **अहं गृभ्णामि मनसा मनाँसि मम चित्तमनुचित्तेभिरेत।**
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥

—अथर्व ६-९४-२

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः। छन्दः—अनुष्टुप्। विराट् जगती।

शब्दार्थ—प्रजापति अर्थात् राष्ट्र में राजा, घर में गृहपति और मानव देह में आत्मा है। और राष्ट्र की प्रजा, घर के सदस्य तथा शरीर की इन्द्रियाँ प्रजाएँ हैं।

(वः) आप प्रजाओं के (मनांसि) मनों या उनकी वृत्तियों को (व्रता) कर्मों तथा (आकूतीः) संकल्पों को (सं नमामसि) अपने अनुकूल बनाते हैं और (वः) आप में से (ये अमी) जो ये (विव्रता) विरुद्ध कर्मों वाले (स्थन) हैं (तान्) उनको (संनमयामसि) अच्छे कर्मों की ओर झुकाते हैं।

मेरा अपने अनुकूल बनाने का प्रकार जोर जबर्दस्ती का नहीं है। अपितु (अहं) मैं (मनसा) अपने शान्त तथा हित कामना वाले मन से (मनांसि) आप के मनों को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूँ—अपने अनुकूल बनाता हूँ। इसलिए आप लोग (चित्तेभिः) अपने चेतनापूर्ण मनो द्वारा अर्थात् सोच-विचार कर, किसी भय या लोभ से नहीं (मम चित्तमनु) मेरी चेतना के अनुकूल बनकर (एत) मेरी ओर आओ—मेरी आज्ञाओं तथा इच्छाओं का अनुसरण करो।

(वः हृदयानि) आप के हृदयों को (मम वशेषु कृणोमि) अपनी इच्छा के अनुसार अपने वश में करता हूँ, ताकि (मम यातमनु) मेरे चलन के अनुकूल (वर्त्मानः) आचरण करते हुए (एत) जीवन भर चलते रहो।

निष्कर्ष—सब क्षेत्रों में मुखिया का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधीनस्थ जनों के मनों व चितों को प्रेम से, रक्षा से, सुविधाएँ प्रदान करके अपने अनुकूल बनाए।

यदि कभी विरोध हो भी जाए तो प्रेम पूर्वक उनकी आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को जानकर तदनुकूल व्यवहार द्वारा उनके हृदयों को अपने वश में करने का प्रयत्न करे।

अपने आतंक द्वारा उन्हें दबाकर सच्चे अर्थों में अपना अनुगामी या राष्ट्र का हितैषी नहीं बनाया जा सकता।

इसी प्रकार अधीनस्थ जनों का कर्त्तव्य है कि विरोध हो जाने पर वे प्रजापति की इच्छाओं का आदर करते हुए, सोच विचार कर उसके अनुकूल बनने का प्रयत्न करें, जिससे राष्ट्र, गृह या शरीर में विरोध न दिखाई दे।

विशेष—मन, संकल्प, व्रत, चित, हृदय इत्यादि सरस्वती की कृपा और सहायता से ही एकमत होकर समान मार्ग पर चलते हैं।

(४७) **यस्ते पृथुः स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम्।**
मा नो वधीर्विद्युता देवसस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य॥

—अथर्व ७-११-१

ऋषिः—शौनकः। देवता—सरस्वती। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—हे सरस्वति देवि! (ते) तेरा (यः) जो (पृथुः) विस्तृत (स्तनयित्नुः) स्तन या मेघ के समान पोषण तथा शान्ति देने वाला (ऋष्वः) दर्शनीय तथा महान् (दैवः केतुः) दिव्य ज्ञान (इदं विश्वम्) इस सारे विश्व को (आभूषति) आभूषण की तरह स्पृहणीय तथा आकर्षक बनाता है। हमारे लिए हितकर उस (देवसस्यम्) देवताओं के भोजन रूप ज्ञान को (विद्युता) विद्युत् के समान चपल चमक से (मा वधीः) समाप्त मत कर और (सूर्यस्य रश्मिभिः) ज्ञान सूर्य की प्रखर किरणों की चकाचौंध से (मा वधीः) मत समाप्त कर।

निष्कर्ष—सरस्वती की साधना द्वारा सुषुम्ना में प्रवाहित कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से प्राप्त ज्ञान ही देवताओं का भोजन है। देवकामी जन इसी भोजन पर जीवित रहते हैं, और यह भोजन उन्हें आकर्षक, शान्त और अनुकरणीय बनाता है।

चकाचौंध उत्पन्न करने वाला राजस (वैज्ञानिक) ज्ञान तथा सूर्य की रश्मियों के समान शुभ्र सात्विक (दार्शनिक) ज्ञान भी देवकोटि में पहुँचने वाले मनुष्य के लिए बन्धन कारक है। इसलिए इन दोनों से रक्षा की प्रार्थना की गई है।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि शौनक अपने नाम द्वारा निर्देश करता है कि यदि मनुष्य ज्ञान वृद्धि या किसी भी प्रकार की समृद्धि प्राप्त करके सुखी बनना चाहता है तो उसे सरस्वती की साधना करके शुभ्र बने रहना चाहिये। किसी प्रकार की आसक्ति में नहीं पड़ना चाहिए।

(४८) **यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद्याचमानस्य चरतो जनाँ अनु।**
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदापृणद् घृतेन॥

—अथर्व ७-५७-१

ऋषिः—वामदेवः। देवता—सरस्वती। छन्दः—जगती।

शब्दार्थ—(यद्) यदि (आशसा वदतः) किसी इच्छा को व्यक्त करते हुए और उसे पूरा करने के लिए (जनाँ अनु चरतः) मनुष्यों के पीछे-पीछे चलकर (याचमानस्य) याचना करते हुए (मे) मेरा मन (विचुक्षुभे) क्षुब्ध हुआ है (यद्) अथवा (मे तन्वः आत्मनि) स्थूल, सूक्ष्म या कारण शरीर के अन्तरात्मा में (विरिष्टं) हिंसा रोग या न्यूनता आ गई है

तो (सरस्वती) मातृ रूपा संस्कृति या सरस्वती देवी (तद्) उस न्यूनता को (घृतेन) घृत सदृश स्निग्धता या दीप्ति से (आपृणत्) पूरित कर दे।

निष्कर्ष---इच्छा उत्पन्न होने पर, उसे पूरा करने के प्रयत्न में अथवा उसके पूरा न होने से मन क्षुब्ध होता है। इसलिए मन को शान्त रखने के लिए इच्छाओं को त्यागने का प्रयत्न करना चाहिए।

शरीर की हिंसा होने पर घाव में या क्षीणता होने पर घृत उपचार का काम देता है। और मन के विक्षोभ में ज्ञान की दीप्ति से शान्ति मिलती है।

विशेष---इच्छा को त्यागने से पूर्व सुन्दर तथा दिव्य विचारों को अपनाना चाहिए। दिव्य विचारों को अपनाने का अर्थ है, स्वार्थ, लोभ, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि दुर्भावनाओं की पूरी तरह से मुक्ति। इस क्रम को अपनाए बिना सहसा इच्छाओं को त्यागना संभव नहीं है।

(४९) सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः॥

—अथर्व ७-५७-२

ऋषिः—वामदेवः। देवता—सरस्वती। छन्दः—जगती।

शब्दार्थ—(मरुत्वते) प्राण साधना में लगे हुए (शिशवे) शिशु तुल्य सरल चित्त वाले (पित्रे) अपने मन और शरीर की रक्षा में लगे साधक के लिए (पुत्रासः सप्त) सर्पण शील सातों ऋषि (५ ज्ञानेन्द्रियाँ + मन + बुद्धि) (ऋतानि-क्षरन्ति) अपने ज्ञान रूपी जल को क्षरित करते रहते हैं। (अपि) यदि साधक इन ऋतों को (अवीवृतन्) अपने जीवन में प्रवृत्त कर ले तो (अस्य) इस साधक के (उभे) दोनों शरीर और मन (यतेते) साधना का प्रयत्न करते रहते हैं (उभे अस्य पुष्यतः) दोनों पुष्ट और सक्षम हो जाते हैं और (उभे अस्य राजतः) दोनों ही दीप्त होकर विराजते हैं।

निष्कर्ष—साधक का चित्त शिशु की तरह सरल तथा दुरितों से अनजान होना चाहिए। उसे अपने शरीर और इन्द्रियों की पुत्र के समान रक्षा करनी चाहिए। ये इन्द्रियाँ हेय नहीं, ऋषि तुल्य हैं और शरीर की रक्षा सदा प्रमाद रहित होकर करती है। इन्द्रियाँ-शरीर, शरीर-मन, मन-आत्मा के युगल इस मन्त्र में उभे शब्द से ग्रहण किए जा सकते हैं।

विशेष—मनुष्य को पशुकोटि में न जाकर देवकोटि में जाने का प्रयत्न करना चाहिए। देव बनने के बाद उसे वामदेव और महादेव बनना चाहिए। महादेव ही पूर्ण योगी अथवा प्राण साधना के आदर्श हैं।

(५०) सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः॥ —अथर्व ७-६८-१

(५१) इदं ते हव्यं घृतवत्सरस्वति—इदं पितॄणां हविरास्यं यत्।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम॥

—अथर्व ७-६८-२

(५२) शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति। मा ते युयोम संदृशः ॥

—अथर्व ७-६८-३

ऋषिः—शन्तातिः। देवता-सरस्वती। छन्दः—अनुष्टुप्-त्रिष्टुप्—गायत्री।

ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर विद्या प्राप्त करने के बाद, जब मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लेता है। तब शान्ति की इच्छा से इस सूक्त का पाठ करता है। इसलिए यह भी माना जा सकता है कि गृहस्थी अपनी पत्नी की सरस्वती के रूप में इस सूक्त द्वारा स्तुति करता है, और उससे गृहस्थ को मधुरता, शान्ति तथा सुख प्रदान करने की प्रार्थना करता है।

शब्दार्थ—(देवि सरस्वति) हृदय में रस को प्रवाहित करने वाली हे देवि (ते दिव्येषु व्रतेषु) तेरे साथ किए हुए दिव्य व्रतों को पूरा करते हुए और (दिव्येषु धामसु) दिव्य पवित्र धामों में विहार करते हुए (आहुतं हव्यं) तेरे निमित्त लाये हुए भोग्य पदार्थों को (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कर, सुखपूर्वक रह और (देवि) हे देवि, यथा समय (नः) हमारे कुल के लिए (प्रजां ररास्व) सन्तान प्राप्त करा।

(सरस्वति) हे देवि (ते) तेरे लिए (इदं घृतवत् हव्यम्) ये स्निग्ध मधुर भोज्य पदार्थ तथा (पितृणाम्) पितृ परम्परा से प्राप्त (आस्यं हविः) स्वाद के लिए मुख में डालने योग्य भोज्य वस्तुएँ उपस्थित हैं। इस प्रकार हमारे घर में (ते) तेरे लिए (इमानि शंतमनि उदिता) सब प्रकार से शान्त परिस्थितियाँ प्राप्त हैं। इसलिए (तेभिः) उन भोज्य पदार्थों और परिस्थितियों के कारण तू ऐसा व्यवहार चला कि (वयं) हम घर के सभी सदस्य (मधुमन्तः स्याम) परस्पर मधुर व्यवहार करने वाले बने रहें।

(सरस्वति) हे सरस हृदये! तू (नः) हमारे कुल के लिए (शिवा) कल्याण-कारिणी (शंतमा) शान्ति स्थापिका तथा (सुमृडीका) अच्छी प्रकार सुख कारिणी (भव) हो। हम कभी (ते संदृशः) तेरी दृष्टि से (मा युयोम) ओझल न हो जावें। तू हममें से किसी की उपेक्षा मत करना। सबका ध्यान रख।

निष्कर्ष—पत्नी की इच्छा के बिना और पत्नी को सन्तुष्ट किए बिना उत्तम सन्तान नहीं प्राप्त हो सकती।

यद्यपि भोजन की अपनी कुल परम्परा होती है, फिर भी नववधू के स्वाद का ध्यान रखना चाहिए। उसे सन्तुष्ट रखे बिना घर में शान्ति और मधुरता प्रवाहित नहीं हो सकती।

यदि पत्नी चाहे तो घर को कल्याण, शान्ति और सुख का धाम बना सकती है। और तब कोई भी सदस्य उसकी दृष्टि से वियुक्त नहीं होना चाहता है।

(५३) प्रतितिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति।
सिनीवालि प्रजायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ —अथर्व १४-२-१५

ऋषिः—सूर्या सावित्री। देवता-सरस्वती। छन्दः— भुरिक् त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(सरस्वति) हे सरस हृदये, मातृकामे, देवि (विराट् असि) तू अपने प्रेम और मातृत्व के कारण विशिष्ट दीप्ति से सम्पन्न है। इसलिए (विष्णुरिव) सर्वत्र व्याप्त होने वाले सूर्य के समान (प्रतितिष्ठ) सबके हृदयों में प्रतिष्ठा पूर्वक विराजमान हो।

हे (सिनीवालि) अन्न प्रदायिनि और अतएव सबको प्रेम द्वारा बाँधने वाली देवि! तू ऐसी कृपा कर कि हमारे कुल में सदा (भगस्य प्रजायताम्) सौभाग्य की उत्पत्ति होती रहे। इस कुल का प्रत्येक सदस्य सदा (भगस्य) ऐश्वर्य प्रदाता देव की (सुमतौ असत्) अच्छी सम्मति (कृपा) का पात्र बना रहे—

निष्कर्ष— १. जहाँ सुमति तहाँ सम्पति नाना।

२. प्रेमपूर्वक अन्नदान का बन्धन बड़ा दृढ़ होता है। इस बन्धन से दृष्टिकोण संकुचित न होकर विस्तृत होता है। दृष्टिकोण के विस्तार के साथ-साथ प्रतिष्ठा और घनिष्ठता भी बढ़ती जाती है।

३. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

विशेष—इस मन्त्र की ऋषिका सावित्री—उत्पादन कर्त्री है। वह सन्तान उत्पन्न करती है। और घर के लिए उपयोगी पदार्थों के उत्पादन में व्यस्त रहती हुई ऐश्वर्य को बढ़ाती रहती है। परिणामतः अपने कुल में और समाज में प्रेरणा का स्रोत (सूर्या) बन जाती है।

सावित्री की तरह सती स्त्री सदा सूर्या के समान विश्व में चमकेगी और सबको प्रकाश देगी।

सरस्वान् देव

(५४) **स वावृधे नर्यो योषणासु वृषा शिशुर्वृषभो यज्ञियासु।
स वाजिनं मघवद्भ्यो दधाति वि सातये तन्वं मामृजीत॥**

—**ऋक् ७-९५-३**

ऋषिः—मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। देवता-सरस्वान्। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(वृषा) सेचन समर्थ (शिशुः) अपनी शारीरिक तथा मानसिक कमियों को पूरा कर लेने वाला (वृषभः) प्रसन्नता और सुख की वर्षा करने वाला और इसलिए (नर्यः) मानवहितैषी, नर श्रेष्ठ (सः) (सरस्वान्) पिता बनने की कामना वाला पति (यज्ञियासु) संगति की कामना वाली (योषणासु) स्त्रियों के मध्य में (वावृधे) प्रसन्नता के कारण बढ़ता हुआ सा अनुभव करता है। और (सातये) अपने कुल के लाभ के लिए (तन्वं मामृजीत) अपने शरीर को पवित्र रखता है और पत्नी के शरीर का शोधन करता है। तथा (मघवद्भ्यः) अपने कुल के ऐश्वर्य युक्त सदस्यों की प्रसन्नता के लिए (तन्वम्) अपने शरीर को (दधाति) पत्नी में गर्भ रूप से धारण करता है। और उत्पत्ति के बाद (तन्वं) सुकुमार सन्तान को (वाजिनं) वेगवान् तथा बलवान् (विदधाति) बनाने का प्रयत्न करता है।

विशेष—(क) इस मन्त्र का ऋषि संकेत करता है यदि पत्नी को प्रसन्न रखना है और उत्तम सन्तान उत्पन्न करनी है तो— पति को—

१. कुल के प्रत्येक सदस्य के साथ मित्र भाव रखना होगा (मित्र)।

२. अच्छे-बुरे; लाभ-हानि; और उचित-अनुचित में विवेक करने वाला (वरुण) बनना होगा।

३. अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर वसिष्ठ बनना होगा।

(ख) वेद में प्रायः सर्वत्र देवों का मुख्य रूप से वर्णन है। और उनकी सहायिका शक्ति के रूप में पत्नी की चर्चा है। जैसे इन्द्र-इन्द्राणी, रुद्र-रुद्राणी, अग्नि-अग्नायी, किन्तु अपवाद रूप में केवल सरस्वती देवी का मुख्य रूप से वर्णन है, और उसकी सहायक शक्ति के रूप में सरस्वान् की चर्चा है।

१. इसलिए यदि सरस्वती मातृत्वकामा (अम्बितमा) पत्नी है तो सरस्वान् पितृत्वकाम पति होना चाहिए।

२. सरस्वती यदि संस्कृति और ललित कलाओं की देवी है तो सरस्वान् का अर्थ होगा, इनका विकास करने वाला राष्ट्र।

३. इसलिए पुराणों में विष्णु और शिव की शक्ति को केवल पत्नी रूप में कल्पित किया है। किन्तु ब्रह्मा की शक्ति सरस्वती को पहिले उसकी पुत्री और बाद में पत्नी रूप में कल्पित किया है। क्योंकि संस्कृति या ललित कलाएँ राष्ट्र की प्रसूति-पुत्री तुल्य होती है। और बाद में परिपुष्ट होने पर राष्ट्र की शक्ति, परिचायिका तथा गौरव प्रदान करने वाली पत्नी तुल्य बन जाती है।

निष्कर्ष—१. जब तक मनुष्य वीर्य सेचन में समर्थपूर्ण युवा न हो जाए तब तक उसे विवाह नहीं करना चाहिए। यदि इससे पूर्व सन्तानोत्पादन करेगा तो सन्तान वाजी न होकर रोगी और क्षीण बनी रहेगी।

२. यदि मनुष्य स्वयं पवित्र न होगा, तो पत्नी को प्रसन्न नहीं रख सकेगा। पत्नी प्रसन्न नहीं होगी तो सन्तान सुन्दर तथा बलिष्ठ व गुणी नहीं होगी।

(५५) **जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः। सरस्वन्तं हवामहे॥**

—ऋक् ७-९६-४

(५६) **ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः। तेभिर्नोऽविता भव॥**

—ऋक् ७-९६-५

(५७) **पीपिवांसं सरस्वतः स्तनं यो विश्व दर्शतः। भक्षीमहि प्रजामिषम्॥**

—ऋक् ७-९६-६

ऋषिः—मैत्रावरुणिः वसिष्ठः। देवता-सरस्वान्। छन्दः—गायत्री।

शब्दार्थ—(सुदानवः) प्रभूत धन प्राप्त करके दान की कामना करने वाले (पुत्रीयन्तः) काम उत्पन्न होने पर पुत्र की कामना वाले और (जनीयन्तः) लोकैषणा होने पर जनता की सेवा करने वाले इस प्रकार (अग्रवः) किसी भी दिशा में अगुआ बनने वाले हम (नु) अवश्य ही (सरस्वन्तं) सरसता या कलाओं के स्वामी सरस्वान् देव को (हवामहे) पुकारते हैं।

हे (सरस्वः) संस्कृति के प्रवाहक देव (ते) तेरी (ये) जो (मधुमन्तः) मधुरतापूर्ण (घृतश्चुतः) ज्ञान और दीप्ति को प्रवाहित करने वाली (ऊर्मयः) तरंगित लहरियाँ है (तेभिः) उनके प्रयोग द्वारा (नः) हमारे (अविता) रक्षक तथा वर्धक (भव) होइए।

(सरस्वतः) सरस (रसीले) देव के (पीपिवांसं) प्रवृद्ध (स्तनं) स्तन को (यः विश्वदर्शतः) जो सब दृष्टियों से दर्शनीय है, (भक्षीमहि) हम उपभोग करते हैं और (प्रजां) सन्तान तथा उत्पादन और (इषं) अन्न तथा कामनाओं को प्राप्त करते हैं—पूर्ण करते हैं।

निष्कर्ष—१. मनुष्य में ३ प्रकार की—वित्त की—सन्तान की—तथा यश की इच्छाएँ (एषणाएँ) होती हैं। इनको पूर्ण करते हुए प्रभु को सदा याद रखना चाहिए। ये इच्छाएँ उसी की कृपा से पूर्ण होती हैं। इन इच्छाओं को पूरा करने में बड़ी मधुरता, स्निग्धता और दीप्ति का अनुभव होता है। ये इच्छाएँ ही मनुष्य को महत्त्वाकांक्षी बना कर उसे सांसारिक दृष्टि से बढ़ाती हैं। इन इच्छाओं के अच्छे-बुरे फल अनुभव कर और अन्त में इनका त्याग करके निष्काम होकर ही मनुष्य सरस्वान् प्रभु के समीप पहुँचता है।

२. सरस्वती मातृत्वकामा पत्नी है तो सरस्वान् पितृत्वकाम पति है। मातृत्व कामना से प्रेरित होकर स्त्रियाँ वीर्य वर्षक बलवान् पति का आह्वान करती है। जब पति-पत्नी दोनों में काम की मधुर और स्निग्ध तरंगें-लहरें उठने लगती हैं, तब दोनों में वृद्धि प्रारम्भ होती है और उस समय दोनों एक दूसरे का स्तन पान द्वारा उपभोग करते हैं। उनकी इच्छा पूरी होती है, सन्तान की प्राप्ति होती है।

'स्तनं भक्षीमहि' का प्रयोग हिन्दी में 'मैं' के स्थान में 'हम' के प्रयोग की तरह प्रयुक्त हुआ है—ऐसा समझ सकते हैं।

(५८) **यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्त आपः।**
यस्य व्रते पुष्टपतिर्निविष्टः तं सरस्वन्तमवसे हवामहे॥

—अथर्व ७-४०-१

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता-सरस्वान्। छन्दः—त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(यस्य) जिस सरस्वान् (कामदेव) के (व्रतं) आदेश या व्रत को (सर्वे पशवः) विश्व के सब पशुधर्मा प्राणधारी (उपयन्ति) स्वभावतः पालते हैं। और (यस्य व्रते) जिसके व्रत में (आपः) प्राणधारिणी प्रजाएँ (उपतिष्ठन्ते) सदा संगत रहती हैं—स्वयमेव स्वभावतः पालन करती हैं। (यस्य व्रते) जिसके व्रत में (पुष्ट पतिः) पुष्ट से पुष्ट पुरुष (निविष्टः) अच्छी तरह प्रविष्ट है। (तं सरस्वन्तं) उस भावुक रसीले कामदेव को हम (अवसे) अपने कुल की रक्षा तथा वृद्धि के लिए (हवामहे) बुलाते हैं—याद करते हैं।

निष्कर्ष—कामदेव के व्रत का पालन और प्रजनन प्रत्येक प्राणधारी का स्वाभाविक धर्म है। इसके बिना कुल की रक्षा और वृद्धि सम्भव नहीं।

मनुष्य चाहे जितना पुष्ट हो उसे क्षीण होना ही है, और अन्त में मृत्यु अनिवार्य है। इसलिए बुद्धिमत्ता यही है कि अपने कुल की रक्षा के लिए काम-धर्म का पालन करे। सन्तान द्वारा अपने को अनन्त काल तक अमृत बनाए रहें। (प्रजाभिरमृतत्वमश्याम्) ऋक् ५-४-१०।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व=प्र (प्रकृष्ट)+कण्व (मेधावी) नि० ३। १५ संकेत करता है कि सामान्य जन के लिए काम के व्रत का पालन ही—बुद्धिमत्ता है। इसका दमन लाभ के स्थान में कई प्रकार की हानियाँ उत्पन्न करता है।

(५६) आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वांसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम्।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम्॥

ऋषि—प्रस्कण्वः। देवता-सरस्वान्। छन्दः—त्रिष्टुप्। —अथर्व ७-४०-२

शब्दार्थ—(दाशुषे) किसी प्रकार का दान करनेवाले को (दाश्वांसम्) आत्मदान देने वाले (पुष्टपतिम्) स्वयं पुष्ट बनकर अपने आश्रितों की रक्षा करने वाले (रयिष्ठाम्) सम्पत्ति में स्थित होते हुए (प्रत्यञ्चम्) प्रत्येक कामना को पूर्ण करने के लिए सदा प्राप्त रहने वाले (रयीणाम् सदनम्) सब प्रकार की समृद्धियों के निधान (श्रवस्युम्) अन्न और धन का जुगाड़ करने वाले (सरस्वन्तम्) रस प्रवाहित करने वाले (पुप्टपतिम्) हृष्टपुष्ट पति को (रायस्पोषं वसानाः) धन और पोषण को प्राप्त करने वाली हम पत्नियाँ, नारियाँ (आहुवेम) सम्पूर्ण हृदय से बुलाती हैं।

निष्कर्ष—इस मन्त्र के परमेश्वरपरक अर्थ भी बिलकुल स्वाभाविक और स्पष्ट हैं।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व=बुद्धिमान् है। बुद्धिमान बने बिना **सरस्वान्**=रस (प्रेम) को प्रवाहित करना संभव नहीं है।

परिशिष्ट-१

अर्थ पोषक प्रमाण (भूमिका-भाग)

वेद १ है :—यस्मात्कोशादुदम रामवेदं तस्मिन्नन्तर वदध्म एनम् । अ० १९-७२-१
योवेदेने ददाशमर्तो अग्नये । यो नमसा स्वध्वर: ऋक् ८-१९-५
न तमंहां देवकृत कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत् ।। ऋक् ८-१९-६

वेद ३ हैं :—ऋक्—यत्रार्थ व शेन पाद व्यवस्था । साम-गीविषु सामाख्या ।
यजु :—शेषे यजु: । मीमांसा दर्शन २-१-३५, ३६, ३९
ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजु: प्रपद्ये, साम प्राणं प्रपद्ये । यजु: ३६-१

वेद ४ हैं :—तस्माधसात्सर्व हुत: ऋच: सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माध जुस्त एनाद जायत ।। ऋक् १०-९०-९

ऋषि—१. ऋषिर्दशनात्—स्तोमान्ददर्श—इति औपमन्यव: ।

(क) मन्त्रों का दर्शन करने वाले—ऋषि हैं ।

(ख) मन्त्रार्थद्रष्टा विद्वान् परमेश्वरो वा, वेदपारगा: परमयोगिनो महाविद्वांस: ऋषियो भवन्ति (स्वामी दया०) । परमयोगी वेद के महाविद्वान् ऋषि होते हैं ।

(ग) साक्षात्कृतधर्माणो धार्मिका आप्ता: यै: सर्वा विद्या यथा वद्विदिता, येऽवरेभ्योह्यसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान्मन्त्रार्थाश्च वेदप्रचाराय वेदार्थ विज्ञानाय च संप्रादु: प्रकाशितवन्तस्तस्मात्ते ऋषयो जाता: । नि० १३-१२

धार्मिक आप्त विद्वान् बनकर स्वयं वेद के रहस्य को जानकर, वेद न जानने वाले दूसरे मनुष्यों को जो वेद मन्त्र तथा मन्त्रार्थ का ज्ञान देते हैं वे ऋषि बन जाते हैं ।

२. ऋष् गतौ । प्राप्त किए हुए ज्ञान को क्रिया में परिणत करके क्रियात्मक रूप प्रदान करनें वाला ऋषि है । इसलिए ऋषि वह है जो—

(क) स्वयं वेदमन्त्रों तथा उनके अर्थ और रहस्य का साक्षात्कार करके, प्राप्त ज्ञान को अपने आचरण का अंग बना लेता है ।

(ख) अपने शिष्यों तथा साधारण जन को, ज्ञान का उपदेश मुख की अपेक्षा अपने जीवन और आचरण से अधिक देता है ।

(ग) इस प्रकार वेद मन्त्रोक्त ज्ञान को अपने आचरण द्वारा क्रिया में परिणत करके दूसरों का मार्ग-दर्शन कराने वाला गुरु भी ऋषि होता है ।

३. ऋषिवाची शब्द मन्त्रोक्त देवता बनने अथवा मन्त्र में प्रार्थित पदार्थ को प्राप्त करने के उपाय का संकेत करता है ।

देवता—देव एव देवता स्वार्थे तल् । दिव्यता को धारण करने वाला कोई भी पदार्थ चाहे वह जड़ हो या चेतन देव कहाता है। ऐसे जिन देवों के सम्बन्ध में किसी

मनुष्य—मनुष्य को पांच भागों में विभक्त किया गया है ।
इन्द्र: पञ्च क्षितीनाम् । ऋक् १-७-९
विश्वे देवा अदिति: पञ्चजना अदिति: । ऋक् १-८-९-१०
अञ्जन्ति सु प्रयसं पञ्च जना: । ऋक् ६-११-४

प्रकार की स्तुति अर्थात् गुण दोषकीर्तन किया गया है, वे सब देव वेद में देवता कहलाते हैं। इसी बात की पुष्टि अथर्व वेद 'देवा देवता सम्बभूवु:। अ० १९-१-४ द्वारा करता है।

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। नि० ७-१

मन्त्रः—वेदोपदेशः, विचारः, विचारवान् (गुरुः) स्वामी दयानन्द, **मन्त्राः**—मननात्। नि ७-१२

जिसका मनन किया जाए, जो मनन की प्रेरणा देकर लाभ पहुँचाए।

छन्द—१: छद् संवरणे। छन्दांसि छादनात्।—नि० ३।१२।

आपत्ति, कष्ट और पीड़ा को छादन द्वारा वैसे ही रोकते हैं, जैसे छाता धूप और वर्षा को रोकता है। छन्दांसि—ऋग्यजुः सामाथर्वाणः। स्वा० द० यजुः ६-२१

२. **छदि** अपवारणे—रोग, दोष, दुःख का निवारण करते हैं।

३. **चदि** आह्लादे छन्दति अर्चतिकर्मा। नि० ३।१४

चन्दन्ति आनन्दन्ति येन तत्। स्वामी दयानन्द

पशवो वै देवानां छन्दांसि तद्यथा पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्ति एवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति। शत० १।८।२-८

५. छन्दांसि बैग्माः, छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति। शत० ६-५-४-७

ग्नाः वाङ्नाम। नि० १-११

सप्त वै छन्दांसि। शत० ९।५।२।८ मुख्य छन्द सात हैं।

(१) **गायत्री**—१. गायतेस्तुतिकर्मणः—तया हि गीयन्ते स्तूयन्ते देवताः।

२. त्रिगमना वा विपरीता—त्रि+गा=गा (य) त्री आत्मा मन, शरीर तीनों की प्रगति।

३. गायतो वा मुखाद् (ब्रह्मणः) उदपतत्। ज्योतिर्वा गायत्री छन्दसाम्। इसीलिए गायत्री जप की इतनी माहिमा है।

४. त्रिपदा गायत्री—गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुः।—ऋक्० १।१६४।२५

(२) **त्रिष्टुप्**—१. स्तुभु-स्तम्भे त्रिवृत् वज्रः तस्य स्तोभनी—अवरोधिका। काम, क्रोध, लोभ ये तीनों क्रमशः शरीर, मन आत्मा को विकृत करते हैं। इसी वज्र का यह अवरोध करती है।

२. स्तुञ्-स्तुतौ। स्तुतिर्हि गुण दोषानुकीर्तनम्। स्वामी दयानन्द यायक्ष वृद्ध का आदर, वयस्य का सहयोग और वत्स की सहायता ही स्तुति है।

३. स्तुच्-प्रसादे—संतुष्ट, प्रसन्न या तेजस्वी होना।

संतोष, प्रसन्नता, तेजस्विता क्रमशः लोभ, क्रोध, काम को शान्त करते हैं।

(३) **जगती**—१. गम्लृगतौ। गततमं छन्दः—अत्यन्त प्रगति का संकेत करता है।

२. जलोर्मिप्रकारो हि तस्याःप्रस्तारः। लय बद्ध गति का संकेत करता है।

३. ग्लैहर्षक्षये। जल्गल्यमानः (क्षीण हर्ष इव) असृजत् प्रजापतिः—ग्लानि दूर करने के उपाय रूप में गति शीलता का निर्देश करता है।

तिस्रो देवी :—१. इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।—ऋक् १।१३।९

२. आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञं सरस्वती रूद्रैर्न आवीत्।

इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त ॥—यजु० २९।८

(४) **अनुष्टुप्**—अनु+ष्टुप्। अनु के अर्थ अनुसार, अनुकूल तथा अनुपात में लियेजा सकते हैं। ष्टुप् के वे ही अर्थ हैं जो त्रिष्टुप् में किये गए हैं।

(५) **पङ्क्तिः**—पञ्चभिः पादैः पङ्क्तिरुच्यते। पचि (पञ्च्) व्यक्ति करणे, विस्तारवचने च। पंचकों को शुभ्र व विस्तृत करने का संकेत करता है।

सात छन्दों को गिनते हुए ऋग्वेद में विराट् और यजुर्वेद में पङ्क्ति का नामोल्लेख होने से दोनों एक ही प्रतीत होते हैं।

विराट्—विराजनात्-राजृ दीप्तौ। विराधनात्-राध् वृद्धौ, राध् संसिद्धौ। विप्रापणात्—आप्लृगतौ।

(६) **उष्णिक्**—उत्स्नाता भवति, ष्णा शौचे।

स्निह्यतेर्वास्यात्कान्तिकर्मणः। स्निह प्रीतौ।

शुचि बनने और प्रीति करने का संकेत करता है।

(७) **बृहती**—परिबर्हणात् बृह वृद्धौ, बृह् उद्यमने।

उद्यम द्वारा ही बृहत् बना जा सकता है—यह इस छन्द का संकेत या उपदेश है।

यदेभिरातमानमाच्छादयन्देवामृत्योर्बिभ्यन्तस्तत् छन्दसां छन्दस्त्वम्।

छन्दों का अन्य पदार्थों से सम्बन्ध

छन्द	देवता	दिशा	ऋतु	लोक	द्रविणम्	अक्षर
गायत्री	अग्नि	प्राची	वसन्त	पृथ्वी	ब्रह्म	२४
त्रिष्टुप्	इन्द्र	दक्षिणा	ग्रीष्म	अन्तरिक्ष	क्षत्र	४४
जगती	विश्वेदेवा	प्रतीची	वर्षा		विट्	४८
अनुष्टुप्	सोम	उदीची	शरद्	द्युलोक	फल	३२
विराट् या पङ्क्तिः	मित्रावरुणौ	ध्रुवा ऊर्घ्वा	हेमन्त शिशिर		वर्च	४०
उष्णिक्	सविता					२८
बृहती	बृहस्पति					३६

अग्नेर्गायत्री अभवत् सयुग्वा, उष्णिहया सविता संबभूव।

अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान्, बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥

—ऋक् १०।१३०।४

विराट् मित्रावरुणयोरभिश्रीः, इन्द्रस्यत्रिष्टुप् इह भागोअह्नः।

विश्वान्देवान् जगती आविवेश, तेन चाक्लृक्रुपे ऋषयो मनुष्याः ॥

—ऋक् १०।१३०।५

प्राचीमारोह, गायत्री त्वावतु-वसन्त ऋतुः—ब्रह्मद्रविणम्।—यजु० १०।१० से १४

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते।—यजु० २६।१

गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-अनुष्टुप्-पङ्क्तया सह।

बृहती-उष्णिहा-ककुप् सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥ —यजु०२३।३३

परिशिष्ट २

सरस्वती देवता के मन्त्रों में आए विशिष्ट शब्दों के अर्थों के आधार तथा प्रमाण

मन्त्र संख्या—१. **पावका**—स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुंकीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजस ब्रह्मलोकम् । अ० १९-७१-१

अंहसामपनेत्री । स्कन्द स्वामी पावका सरस्वती=पावमानी वेदमाता,

सरस्वती—सरन्ति प्राप्नुवन्ति सर्वाः विद्या येन तत्सरः । तस्मात्प्रशंसायां मतुप् स्त्रियां च टाप् । स्वामी दयानन्द । विदुषी कन्या, प्रशस्त विज्ञान युक्ता प्रजा, विदुषी स्त्री, सर्वविद्या प्रापिका वाक्, वेदवाणी, शुद्धा वाणी, प्रशस्त वेगवती नदी, विद्यासुशिक्षिता वागिव पत्नी, सत्या वाक्. प्रशंसिता गृहिणी, गतिमती नीतिः, जिह्वा, गौः इत्यादयः; महर्षि दयानन्द । सरस्वती वाङ्नाम । नि० १-११ सरस्वत्यः नदीनाम । नि० १-१३

वाजः—**अन्नम्** नि० २-७ । वज् गतौ से वाजः—गति तथावेग । गते स्त्रयोऽर्थाः प्राप्तिः, गतिःज्ञानंच ।

वाजः—ज्ञान, बल, वेग, अन्न, प्राप्ति, गतिः । अतः

वाजः—सब प्रकार की समृद्धि – श्री अरविन्द ।

यज्ञः—यज्ञो वै कर्म । शत १-१-२-१ यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म । विजय प्रापक कर्म=यज्ञ—प्रख्यातं जयतिकर्मा यजिरिति नैरुक्ताः ३-९ । यज्ञो वै महिमा, शत ६-२-३-१८ यज—देवपूजा संगतिकरण दानेषु । दिव्यजनों की पूजा, दिव्य गुणों के साथ संगति, दिव्य कर्मों के लिए दान के सब कर्म यज्ञ हैं । यज्ञम्—धमार्थ काम मोक्ष व्यवहारम् । स्वामी दयानन्द

वष्टु—कामसिद्धि प्रकाशिका भवतु । ऋक् १-१६४-५०

धीः—कर्मनामसु निघ० २-१ । प्रज्ञानामसु निघ० ३-९ ।

२. **सूनृतानाम्**—सुतरामूनयति—अनृतं यत्कर्म तत् सून्, तदृतं यथार्थ सत्यं येषा ते तेषाम् । स्वामी दयानन्द । प्रिय सत्य रूपा वाचः सूनृता उच्यन्ते ।

सूनृता—अन्ननामसु निघ० २-९ । धननाम-माधवपक्षेण ।

३. **अर्णः**—उदकनामसु निघ० १-१२ । ऋगतौ, ऋच्छति निम्नं प्रदेशम् । जल या प्रवाह ।

केतुः—प्रज्ञानामासु निघ० ३-९ । कित्ज्ञाने, केतुः ज्ञानम् । पताका (संकेतक द्रव्य) ।

४. **रत्नम्**—जातौ-जातौ यदुत्कृष्टं तद्धि रत्नं प्रचक्षते । चाणक्य । धातवै—धेट् पाने । स्तनः—स्तन शब्दे; मेघ, मेघगर्जन के समान गम्भीर शब्द अथवा ध्वनिमात्र; स्तनः—शुद्धो व्यवहारः, दुग्धाधारमङ्ग च । स्वामी दयानन्द ।

शशयः—शीङ् स्वप्ने। शान्ति देने वाला, सुलाने वाला।

५. **अविड्ढि**—अव—तृप्ति रक्षण गति वृद्धिषु।

मरुत्वती—मरुत् हिरण्यनाम नि० १४ ओजो वैवीर्यं मरुतः जै० ३-३०६ आपो वैमरुतः। ऐ० ६-३०, आपो विप्राणाः तद्वती।

६. **तमे**—तमु कांक्षायाम्, ताम्यति इति सा तमा। उत्सुकता के साथ चाहने वाली तमा, सम्बोधन में तमे।

अम्बि—अबि (अम्ब्) शब्दे, अम्बति—अम्ब=ज्ञान।

अबि (अम्ब्) गतौ, अम्बते—अम्ब=प्रगति।

अम्बितमे—अम्बा—अम्बी=माता। अतः ज्ञान की, प्रगति कीं या मातृत्व की कामना करने वाली देवी का सम्बोधन।

नदी—नद् अव्यक्ते शब्दे। नदी के प्रवाह के समान संस्कृति के प्रवाह द्वारा प्राप्त होने वाला (अनजाने में प्राप्त) अव्यक्त ज्ञान है जिसमें—वह नदी।

नदीतमे—नदि समृद्धौ। आनन्दित होना या करना, वृद्धि प्राप्त करना या कराना। अतः अव्यक्त रूप में आनन्द ज्ञान और वृद्धि को प्राप्त कराने वाली संस्कृति की देवी, अथवा भागवत ज्ञान को प्राप्त करानेवाली वेदवाणी=नदीतमा, का सम्बोधन नदीतम।

देवितमे—दिवु-क्रीड़ा, विजगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न-कान्तिगतिषु।इन क्रियाओं की कामना करने वाली देवितमा का सम्बोधन।

प्रशस्तिम्—शसि इच्छायाम्। आशंसते, प्रशंसते।

७. **शुनहोत्रेषु**—शुनं सुखं जुहोति ददाति इति तेषु। योग द्वारा उत्पन्न विद्या युक्त व्यक्तियों में। स्वामी दयानन्द

आयूंषि—अन्नानि, नि० २-७-२३ सब प्रकार के भोग। प्रजा—सन्तान, व्यवहार, पदार्थ—प्रजायते इति। स्वामी दयानन्द। **मत्स्व**—मद तृप्तियोगे। मदी हर्षे। मदि—स्तुतिमोदमद स्वप्नकान्ति गतिषु।

८. **ऋतम्**—जलम् नि० १-१२। सत्यम् नि० ३-१०।

यथार्थ, सत्य व्यवहार, यज्ञ, सत्य कारण या ब्रह्म। स्वामी दयानन्द

ब्रह्म—ज्ञानं, धनं अन्नम्। बृहिवृद्धौ। बढ़ने और बढ़ाने का साधन। नि०

मन्म—ज्ञानम्, अनेकविधं सुखम् (मन्तव्यम्)। स्वामी दयानन्द

गृत्समदाः—गृहीतानन्दाः। स्वामी दयानन्द

गृणाति+माद्यति=जो प्राप्त हुआ है, उसमें सन्तुष्ट रहते हुए प्रभु की स्तुति करने वाला=भजनानन्दी।

जुषस्व—जुषी प्रीति सेवनयोः। प्रसन्न करना, प्रसन्न होना; सेवा करना, सेवन करना।

९. **अत्रिः**—न सन्ति त्रीणि दुःखानि दोषाः वा यस्य सः=तीन प्रकार के दुःखों या दोषों से रहित व्यक्ति। स्वामी दयानन्द

अत्-सातत्यगमने! सतत प्रगतिशील—सततगामी। अद्-भक्षणे। सुखानां भोगानां च अत्ता—भोक्ता। वागेवात्रिः वाचा ह्यन्नमद्यते। शतपथ १४-५-२-६

भौमः—भूमि सम्बन्धी अथवा भूमि पर चलने वाला=यथार्थ स्थिति को समझने वाला, न कि आकाश में हवाई किले बनाने वाला।

पर्वताद्—पर्वत की तरह वर्तमान मेघ या शत्रु।

पर्व पूरणे। पर्वतेन—ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादिना वा। स्वामी दयानन्द यजुः ३५-१५. पर्ववान्=पर्वत=पृष्ठवंश।

शग्मम्—सुखनाम नि० ३-६ शग्माम्—सुखमयीम्। स्वामी दयानन्द

घृताची—घृ क्षरण दीप्त्योः। घृतं ज्ञानं दीप्ति वा अञ्चति इति।

१०. **ग्नाभिः**—देवपत्नीभिः। सायण। छन्दांसि वै ग्नाः तै० स० ५-१-९-२ वाणीभिः। स्वामी दयानन्द

पावीरवी—शोधन करने वाली। सजोषाः—सह प्रीयमाणा।

वीरपत्नी—वीराणां पालयित्री च।

११. **रभसम्**—रभ् राभस्ये। शीघ्रता से काम करने वाले।

दिवोदासम्—दिवु द्युतिमोद कान्तिगतिषु। दासम्—दासृ दाने। आनन्द दीप्तिव प्रगति देने वाले।

बध्र्यश्वाय—वध्रि+अश्वाय। वध्रि—वृधु वृद्धौ वृद्धिशील हैं कर्मेन्द्रियाँ जिसकी उसे। इन्द्रिया हयाः (अश्वाः)। मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हयाः। ऋ० ९-१०-१०९-७-२५।

आचखाद—खद भक्षणे स्थैर्ये हिंसायां च।

तविषा—महन्नामसु। नि० ३-३ तविषाः—तविषाणि महान्ति। सायण

अवसम्— अव—रक्षण—गति—कान्ति—प्रीति—तृप्ति—अवगम— प्रवेश —श्रवण—स्वामी—अर्थयाचन—क्रिया—इच्छा—दीप्ति—अवाप्ति—आलिंगन— हिंसा—आदान—भाव—वृद्धिषु।

१२. **बिसखा**—बिसं कमलतन्तुं खनति—हथिनी। बिस प्रेरणे।

धीतिः—कर्म, ध्यान=ध्यानक्रिया। धारयति धार्यते वा।

गिरिः—पर्वत। पारावतः—पर्वत, बन्दर, कबूतर।

तविषः—महिषः—तवसः=महान् नि० ३-३

ऊर्मिः—ऊर्णुञ् आच्छादने। ऋच्छति गच्छति इति वा। अज्ञानं दोषं वा।

वृक्तिभिः—वृजी वर्जने, दोषनिवारक। धीतिभिः—विधीयन्ते मनुष्यैः।

शुष्मम्—बलम्। नि० २-९

१३. **अवनीः**—भूमीः। नि० १-१ अवरक्षणे। अवनीः हिंसाः—अव् हिंसायाम्।

बृसयस्य—बिस् प्रेरणे. फेंकना। निबर्हय—बर्ह् हिंसायाम्।

विषम्—जलं विषं वा। आस्रवः—आ+स्रु स्रवणे।

१५. **वृत्रतूर्ये**—संग्रामे। नि० २-१७

१६. **सनिम्**—सत्यासत्यविभाजिकां धियम्। स्वामी दयानन्द संभजनीयं धनम्। सायण

१७. **वष्टि**—वाञ्छति। नि० २-६

हिरण्य वर्तनिः—हिरण्यं—हितं च तदापदि रमयति च सर्वम्। वर्तनिः—मार्गः यस्याः सा—।

१८. **अर्णवः**—अर्णः ऋगतौ ऋच्छति ऋणाति वा तद्वान्। अर्णः जलम्। नि० १-१२. अर्णवः—जल तुल्य शीतल व शान्तिकर।

१९. **अतन्**—तनु विस्तारे। आश्रय देकर विस्तार करता है।

ऋतावरी—ऋतावर्यः, सरस्वत्यः, अवनयः, वध्वः, नद्यः। नि० १-१३

अहः दिनम्। जहाति पृथक्करोति अन्धकारम्। उणादिकोप १-१५८

२०. **सप्तस्वसा**—१. सप्त गायत्र्यादीनि छन्दांसि स्वसारो यस्याः सासप्तस्वसा—सु+अस् गतिदीप्ति—आदानेषु—प्रगति देना, दीप्ति करना।

२. सप्त कुलानि असति दीपयति इति—सा।

३. पंचप्राणा मनो बुद्धिश्च स्वसेव यस्याः सा। स्वामी दयानन्द

४. चार आश्रम+गृहस्थ में चार वर्ण=७ ब्रह्मचारी, वान प्रस्थी तथा सन्यासी का कोई वर्ण नहीं होता।

२१. **पार्थिवानि**—पृथिवी सम्बन्धी प्रदेशों को, अथवा पृथिवी शरीरम्। शरीर सम्बन्धी अंगों को। बृहदार० ३-९-३

रजः—ज्योतिः उदकं लोकाः, असृगहनी। नि० ४-१९

२२. **त्रिषधस्था**—त्रि+सह+स्था—प्रत्येक त्रिक में स्थित रहने वाली।

पञ्चजाता—पञ्च ज्ञातानि रूप में उत्पन्न तत्व।

२३. **अपः**—जलम् नि० १-१२। अपः कर्म नि० २-१

विभुत्वने—वि+भू (सत्तायाम्) विशिष्ट अस्तित्व की प्राप्ति के लिए।

२४. **वेश्या** – विश प्रवेशने। प्रतिवेशी-पड़ौसी।

स्फरीः—ओ स्फायी वृद्धौ। अरणानि—अरमणीयानि या बेगाने।

२५. **क्षोदसा**—क्षोदः उदकम्। नि० १-१२ क्षोदसा प्रवाहेण। स्वामी दयानन्द

आयसी—अयः हिरण्यम् नि० १-२. अयः अय् गतौ। प्रगतिशील अथवा लोहमयी तथा दृढ़ा। पूः—पॄ पालनपूरणयोः।

रथ्या—रथाय, रथे वा साधुः—गृहस्थ रथ को चलाने में चतुर।

सिन्धुः—समुद्रनदीवत् व्यवहारं कुर्वन्तो जनाः। स्वामी दयानन्द।

स्रवणात्—स्वयं गतिशील होकर दूसरों को गति की प्रेरणा देने वाला।

२६. **नाहुषाय**मानुषाय, नहुषः मनुष्यनामसु। नि० २-३ सरस्वती—गौ

भूरिः—भवतीति—बहु सुवर्णं वा। उणादिकोष ४-६६

२७. **चित्**—चकाराथ। सायण

जुषाणा—जुषी प्रीति सेवनयोः।

भगः—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

२८. **स्तोमः**—स्तोम् श्लाघायाम्। स्तौति येन सः—उणादिकोष १-१४० स्तुति।

जुषस्व—जुषी प्रीति सेवनयोः।

जुह्वाना—हुदानादनयोः । आदाने च । देना, खाना तथा लेना ।

२९. **स्तुवते**—सच्ची स्तुति करता है अर्थात् उन गुणों को अपने आचरण में लाने का प्रयत्न करता है । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य । गीता ।

ऋतम्—ऋगतौ । नियम पालन या नियतगति ।

सुभगे—भगं श्री योनि वीर्येच्छाज्ञान वैराग्य कीर्तिषु ।

माहात्म्यैश्वर्य यत्नेषु धर्मे मोक्षेऽथ नारवौ ॥ मेदिनीकोषः ।

सा मा पातु सरस्वती भगवती निःशेष जाड्यापहा । इति पौराणिकाः ।

३०. **असुर्या**—असु+ र (रा दाने)+या प्रत्यय=प्राणदान के लिये

प्रगाथः— उपासक—प्रकृष्ट रूप से प्रभुगान करनेवाला—प्र+गा । (गास्तुतौ) जिगाति ।

३१. **अन्धः**—अन्ननामसु । २-७, अभिमुख्येन हि ध्यातव्यम् । स्कन्द—अद्यते प्राणिभिः । तै० ३०-२-२ । अन्धः—ध्यान तथा अन्न । राधः—राध साध् संसिद्धौ । साधना को सिद्ध करने वाला—ध्यान । दरिद्रता की हिंसा करने वाला—धन । राधि हिंसार्थश्च । मरुतः वायवः प्राणाः वा । उणादि० १-६४ ।

३२. **जमदग्निः**—१. जमु अदने । जिसकी जाठराग्नि खूब प्रदीप्त है ।

२. जिसकी यज्ञाग्नि सदा प्रज्वलित है, यज्ञशील ।

३. चक्षुः जदमदग्निः ऋषिः । शत ८-३-१-३ अनेन जगत् पश्यति; विचक्षण, दूरदर्शी, सत्यासत्यविवेकी ।

४. तप की अग्नि द्वारा शरीर और बुद्धि को परिपक्व करने वाला ।

वसिष्ठः—दूसरों को बसाने वालों में श्रेष्ठ । इन्द्रियों को वश में करने वालों में श्रेष्ठ । वसिष्ठः=प्राणः । यजुः १३-५४ प्राणो हिवसिष्ठ ऋषिः । शत ८-१-१-६ प्राणा इन्द्रियाणि । ता० २-१४-२

गृणाना– गृ शब्दे, गृविज्ञाने । समझना, समझाना, उपदेश करना ।

स्तुवाना—स्तुञ् स्तुतौ । (स्तुति-प्रशंसा-पूजा-सेवा-भजन) करना ।

अकवारी—अकुत्सितगमना । शुभ आचरण वाली । सायण

३६. **स्वाहा**—१. सु+आह+आ; अहा ! कितनी सुन्दर सूक्ति है ।

२. स्व+अ (अर्थ, अधिकार)+हा (जहाति) स्वार्थ त्याग का कितना सुन्दर उदाहरण है ।

३. स्वं+प्राह इति । आत्मचिन्तन द्वारा आत्म प्रेरणा लेता है ।

३७. **वाचा**—वेदत्रयी द्वारा । सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता । ऋचो यजूंषि सामानि । शतपथ १०-४-५-२

शुनः शेपः शुनं सुखम् । नि ३-६ शेपः रूपम् । सुखं सपति स्पृशति इति । स्वयं आनन्दी बनकर दूसरों को सुख प्रदाता ।

३८. **बदरम्**—वद स्थैर्ये, वद व्यक्तायांवाचि । बयोर भेदः । व

बर्हिः—बृहंते सर्वे पदार्थाः यस्मिन्—अन्तरिक्षं हृदयान्तरिक्षं वा । परिबर्हणात् । स्वामी दयानन्द ।

अविः—वायुः भेड़, सूर्य, स्त्री। आप्टे। मेषः=मा+इषः। इष गतौ।

उपवाकैः—तिर्यक् गतियों द्वारा, वकि कौटिल्ये गतौ च।

३९. **स्वाहा**—१. सुष्ठु आह्वयति। क्षीर स्वामी सच्चे हृदय से पुकारना।

२. स्वयं सरस्वती आह (ब्रूते)। भास्कर मिश्रः

३. स्वाहुतं हविर्जुहोति। नि० ८-२०। अपने भोग के लिए प्राप्त हवि को दूसरों के लिए देता है। स्वार्थ त्याग अथवा आत्म बलिदान करता है।

४०. **पलक्षी**—पलगतौ—पल+अक्षि=चंचल आँखों वाले मादा पशु-पक्षी।

फल्गूः—फलनिष्पत्तौ; उत्पन्न करना, सफल करना, फला-विशरणे; जाना, विभाग करना—फलानि गच्छति। सफलता प्राप्त कराने वाली वृत्तियाँ तथा क्रियाएँ।

४१. **सरस्वती**—सुषुम्ना नाड़ी, ब्राह्मी बूटी, गौ। ब्रह्मा की पत्नी, सोमलता। हिन्दी कोष

४२. **अथर्वा**—थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः। नि० ११-१९। चरगतौ, चर-संशये। निश्चल तथा स्थिर एवं संशयरहित स्थिरमति विद्वान्। प्राणोऽथर्वा। शतपथ ६-४-२-२।

अनुमतिः—अनुकूल विज्ञानम्, परमेश्वरः। स्वामी दयानन्द; विद्वानों व गुरुओं की आज्ञा या उपदेश मानने की वृति।

भगः—धननामसु। नि २-१०। भगस्य भाग धेयस्य। नि० ६-३१

४३. **श्रद्धा**—दृढ़विश्वासः, सत्ये प्रीतिः; स्वामी दयानन्द।

४४. **ब्रह्मा**—चतुर्वेदवित्,महान् योगी, परमेश्वर। स्वामी दयानन्द। मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा। शतपथ १४-६-१-७।

प्रजापतिर्वै ब्रह्मा। गोपथ-३०-५-८ प्रजापति=अथर्वा+ब्रह्मा।

प्रजापतिः—प्रजा की रक्षा करने वाला।

४५. **अथर्वाङ्गिराः**—अथर्वा=स्थिर, शान्त तथा संशयरहित (मन से स्वस्थ) +अंगिराः=अंग-अंग में रस से युक्त (शरीर से स्वस्थ)

४७. **शौनकः**—शुनं सुखनाम। नि० ३-६ यद्वै समृद्धं तच्छुनम्। शतपथ ७-२-२-६। शुनस्य=ज्ञान वृद्ध या सुख प्रदाता का वंशज=शौनक।

सस्यम्—शस्यते यत्तत्—अन्नं भोगो गुणो वा। उणादिकोष ४-११०

रश्मिः—अश्नुते इति किरणो रज्जुर्वो। उणादि ४-४७

स्तनयित्नुः—स्तन् शब्दे। मेघो विद्युत् वा। उणादिकोष ३-२९

ऋष्वः—महान्। नि० ३-३ ऋष्गतौ, गम्यते हि महान् सर्वैः। ऋषिर्दर्शनात्। निरु० २-११ दर्शनीयो हि महान्।

५०. **धामसु**—धामानि त्रीणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि। नि० ६-२८

आस्यम्—असु क्षेपणे। मुख में डालने योग्य।

उदिता—उदितानि=वचनानि प्राप्ताः परिस्थितयो वा।

शन्तातिः—शं सुखम् नि० ३-६ करोत्यर्थे तातिल्।

५२. **मृडीका**—मृड सुखने। सुखयति इति।

५३. **सिनीवाली**—सिनं अन्नम् नि० २-६। षिज् वन्धने—सवको अन्न या प्रेम के द्वारा बन्धन में रखने वाली। योषा वैसिनीवाली। शत ६-५-१-१०

प्रजायताम्—जनी प्रादुर्भावे। उत्पति होती रहे।

५४. **नर्यः**—नृभ्यौ नारीभ्यो वा हितः। मनुष्यमात्र का हितकारी।

सरस्वान्—सरस्वती का पति। सरः=रसः तद्वान् रसीला, ललित, भावुक, सजल=कामदेव। मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती। ७-५-१-३१

शिशुः—श्यति तनू करोति पित्र्योः शरीरम्— स्वस्य दोषान् न्यूनताश्च। धीरे-धीरे पूर्णता प्राप्त करने वाला।

तनुः—तन्यन्ते कर्माणि अनेन। विस्तारयति कुलम्। शरीर या पुत्र। तनु विस्तारे। मामृजीत—मृजू-शौचालंकारयोः। मृजूष्-शुद्धौ।

वाजी—वज गतौ। वेगवान् अश्व। ओविजी भयचलनयोः। दूसरों को भयभीत तथा विचलित करके वश में करने वाला।

५५. **जनीयन्तः**— जनिः—जायतेऽसौ जनिः जननं वा। उणादिकोष ४-१३१ दूसरों की सेवा के निमित्त उत्पादन करने वाले।

५६. **अविता**— अव-आलिंगन-तृप्ति-रक्षण-वृद्धिषु।

५७. **भक्षीमहि**—खाते हैं, उपयोग में लाते हैं, उपभोग करते हैं। आप्टे।

स्तनः—मांसग्रन्थिः, दुग्धाधारमंगम्।

पीपिवांसम्—ओप्यायी वृद्धौ।

५८. **आपः**—आप्ता प्रजाः। स्वामी दयानन्द

योषा वा आपो वृषाग्निः। शतपथ १-१-१-१८ देव्योत्ह्यापः। शत १-१-३-७

पशवः—प्रजा वै पशवः। शतपथ १-४-६-१७

प्राणा वै पशवः। शतपथ ७-५-२-६ प्राणधारी जीव।

तवेमे पञ्चपशवो विभक्ता गावोऽश्वाः पुरुषा अजावयः। अथर्व० ११-२-६

उपतिष्ठन्ते—स्तुतिया पूजा करना, प्रसन्न करना, आतिथ्य करना, साथ रहना, आलिगन करना। संस्कृत धातु कोष।

▭▭